❀ श्रीहरिः ❀

अहमर्थ और परमार्थसार

श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी)

❀ श्रीहरिः ❀

अहमर्थ और परमार्थसार

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्

श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी)

प्रकाशक
ठा० राधामोहन सिंह
स्वर्गाश्रम धाम
तिलकराय का हाता
पो०—बड़का राजपुर
जि०—आरा

प्रथम संस्करण, २०१६ बि०
मूल्य—६)

मुद्रक
शंभुनाथ वाजपेयी
राष्ट्रभाषा मुद्रण
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशकीय वक्तव्य

जन्मान्तरीय प्रशस्त कर्मानुष्ठान का प्रतिफल भगवत्चरणारविन्द का चिन्तन उनकी असम्भावित एवं आकस्मिक कृपा है।

जीवन का प्रतिक्षण नाटक के पात्रों की तरह अपना रङ्ग बदलकर, रङ्ग-मंच पर नाट्यकला का प्रदर्शन करता है। जीवन के पूर्वकाल में मैं अपने कर्तव्य से धूमिल दिशा की ओर जा रहा था। अकस्मात् भगवत्कृपा ने मेरी दिशा बदल दी। पश्चिम से पूर्व की ओर मुड़ा, संसार असार और परमार्थ ही सार प्रतीत होने लगा, इस दिशा में क्रमशः मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी और अप्रत्याशित साधन उपलब्ध होने लगे।

इन्हीं दिनों परम विरक्त तत्त्वदर्शी महात्मा पूज्यपाद श्री १०८ श्री ईश्वरानन्द तीर्थ जी महाराज का दुर्लभ दर्शन हुआ। बहुत कुछ आर्तभाव से प्रार्थना करने के बाद उन्होंने मुझे दीक्षा दी। उनके उपदेश और सम्पर्क ने मुझे 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' की ओर प्रेरित किया। मेरा भाग्य सूर्य चमका और परम मङ्गलमय पवित्र कार्य में उनके द्वारा मुझे बड़ी सहायता मिली। मैं सतत इस ओर लगन के साथ बढ़ने लगा। महात्माओं एवं विद्वानों की सत्संगति में उत्तरोत्तर मेरा मन लगने लगा।

संयोगवश पूज्यपाद श्री १०८ श्री करपात्री जी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनके परम पवित्र जाज्वल्यमान व्यक्तित्व से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ, उनमें मेरी उत्कट श्रद्धा हो गयी। भाग्यवश एक दिन बाल ब्रह्मचारी स्वामी श्री राजराजेश्वरानन्द जी तीर्थ के साथ मैं स्वामीजी के दर्शनार्थ गया। वहाँ स्वामी जी के प्रवचन के अवसर पर **"अहमर्थ और परमार्थसार"** ग्रंथ की चर्चा चल पड़ी। मेरे मन में अभिलाषा हुई कि इस ग्रंथ के प्रकाशन में मैं भी कुछ सहयोगकर कृतार्थ होऊँ, पर संकोचवश कुछ कह न सका। प्रसङ्गतः पुनः एक दिन स्वामी जी महाराज के मुख से निकल पड़ा कि ग्रंथ प्रायः समाप्त हो चला है, अब प्रकाशनार्थ अर्थ की व्यवस्था हो जाय तो अच्छा हो। मैंने सोचा कि अच्छा अवसर है, मैं अपनी अभिलाषा की पूर्ति कर लूँ। मैंने स्वामी जी महाराज से निवेदन किया कि मैं इस पुण्य कार्य में सहयोग करना चाहता हूँ, जब श्री स्वामी जी की स्वीकृति मिल गयी, मैंने अपने को कृतार्थ समझा।

यद्यपि संस्कृत भाषा में दर्शन के अनेक ग्रंथ ऋषियों तथा प्राचीन मनीषियों के द्वारा लिखे गये हैं, परन्तु वे विषय इतने दुरवगाह हैं कि केवल हिंदी के विद्वान् उन्हें कथमपि अवगत नहीं कर सकते, तथा उन ग्रंथों से हिन्दी-जगत् के लोग किञ्चित् भी लाभान्वित नहीं हो सकते। इस कमी की पूर्ति के निमित्त ही पूज्यपाद श्री १०८ श्री करपात्री जी महाराज ने **"अहमर्थ और परमार्थसार"** नामक ग्रंथ लिखकर अध्यात्म विद्याभिलाषियों का महान् उपकार किया है।

यह भौतिक युग है, संसार भौतिकता की तरफ बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा है। विभिन्न देशों में परस्पर एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिए सतत प्रयत्न हो रहे हैं, यही उन्नति की पराकाष्ठा समझी जा रही है, परन्तु अन्त में परिणाम क्या होगा, यह निश्चय करना यद्यपि कठिन है, फिर भी इस प्रश्न का उत्तर इतिहास स्पष्ट बतला रहा है। जब जब भौतिकता की तरफ संसार बढ़ा है, विनाश ही हुआ है। संसार के विवेकशील मनीषी लोग विनाशोन्मुख मानवीय प्रवृत्ति को रोकने के लिये ही अध्यात्म की अत्यन्त आवश्यकता समझकर, अध्यात्म विद्या को सर्वसुलभ बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसकी आवश्यकता केवल प्राचीन परम्परा के विद्वान् ही नहीं प्रत्युत नये विचार के लोग भी स्वीकार कर रहे हैं।

देश की सार्वभौम उन्नति केवल भौतिकता के विकास से नहीं हो सकती, साथ साथ अध्यात्म की तरफ भी लोगों की अभिरुचि बढ़ायी जाय तभी वास्तविक लोक कल्याण एवं मंगल हो सकता है। इन्हीं बातों को हृदयङ्गम कर श्री करपात्री जी महाराज ने दुरवगाह दार्शनिक विषयों को हिन्दी में लिखकर सर्वसुलभ बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। इस प्रकार के ग्रंथों से देश का महान् कल्याण होगा, यह मेरा विश्वास है।

"अहञ्च तं यामि परं परायणम्"।

'स्वर्गाश्रम धाम',
तिलकराय का हाता
बड़का राजपुर, आरा।

ठा० राधामोहन सिंह

महात्मा पूज्यपाद श्री १०८ श्री ईश्वरानंद तीर्थ जी महाराज

आमुख

❀ ॐ तत्सत् परब्रह्मणे नमः ❀

अनन्त श्री विभूषित, श्रीमत परमहंस परिव्राजकाचार्य, वर्य
श्री काशीपीठाधीश्वर शंकराचार्य
स्वामी श्री महेश्वरानंद सरस्वती

सदाशिवसमारम्भां शंकराचार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

श्रीमदाचार्यचरण की कृति 'अहमर्थ और परमार्थसार' मुद्रितप्राय है। इसमें वेदान्त, पुराण, संहिता, तर्क, युक्ति आदि के द्वारा 'अहं' पदार्थ का विवेचन प्रकट हुआ है। संधाय भाषा यहां प्रयुक्त है, वाद कथा की दृष्टि अपनायी गयी है। अनेक ग्रन्थों के महत्त्वशाली उद्धरण मनीषियों के मनन योग्य हैं। आश्चर्यकारिणी प्रतिभा का प्रकाश इस ग्रन्थ को आमूलचूल जाज्वल्यमान कर रहा है। भजनानन्दी भावुक भक्तगण इसमें आनन्द की उपलब्धि पैनी दृष्टि से प्राप्त कर सकते हैं। 'बुद्धेः फलमनाग्रहः', 'अज्ञानबोधः साधीयान्' बुद्धि की वास्तविकता का फल आग्रहत्याग है, अपने अज्ञान का समझना बहुत बड़ी योग्यता है।

'नात्रातीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषोह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते' ॥

किसी भी महामहिम विचारगौरव को कलङ्कपङ्क की कालिमा से मलिन करने का संरम्भ अत्यन्त शोचनीय तथा गर्हणीय है, क्योंकि उसमें कलङ्क की अणुमात्र की भी रेखा भले न हो पर अभिनिविष्ट को सर्वत्र मलिनता ही दीखती है।

तथाकथित दार्शनिकों को अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर प्रकाशमान रत्नों को चयन करने के लिये प्रस्तुत महनीय रचना की गयी है। यथावद् वस्तु परिज्ञान इसका चरम परम फल है। वस्तुतः आत्मा स्वप्रकाश, अखण्ड, नित्य, सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापक, सर्वद्वैतविवर्जित, सर्वश्रुति, स्मृति, पुराण, आगम-

प्रसिद्ध, चैतन्य, वाणी, मन से अत्यन्त विदूर 'अहं' पद का लक्ष्य है। वाचकता अभिधा मुख्य शक्ति की गति 'व्यक्त्याकृति जातयः' के सिद्धान्त के अनुसार उपाधिग्रस्त पदार्थों तक ही सीमित है। वह वराकी निरुपाधि 'अहं' पद लक्ष्य तत्त्व का स्पर्श कैसे कर सकती है। इसका गूढ़ काष्ठापर्यन्त विचार इस अनुपम ग्रन्थरत्न में किया गया है। वास्तव में यह ग्रन्थ इन रत्नों का रत्नाकर है। इसके द्वारा परमार्थ तत्त्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासनपथ प्रशस्त किया गया है। इसको अपनाकर निर्भीक मुमुक्षु साधक 'अहं' पद लक्ष्य तत्त्व की उपलब्धि प्राप्तकर कैवल्य पद की स्थिति में अवस्थित होकर कृतकृत्य हो सकते हैं।

संशयालुओं को सर्वत्र संशय, भय का झंझावात बम्भ्रम्यमाण करता रहता है। वह भी संशयरहित होकर अभ्रान्त निर्भय सुदृढ़ समीचीन कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हों और अपने अपेक्षित चरम लक्ष्य की सिद्धि में सार्थक-प्रयत्न हों इस दृष्टि से श्री आचार्यचरण ने इसमें 'परमार्थसार' को प्राञ्जल हिन्दी भाषा व्याख्यान से सुसज्जितकर संग्रथित कर दिया है। 'परमार्थसार' श्रीमहर्षि पतञ्जलि साक्षात् शेष भगवान् का विरचित दार्शनिक ग्रन्थ है। जिनके अवतारों में पूज्यपाद आचार्यप्रवर श्रीश्रीरामानुजाचार्य महाराज की गणना श्लाघनीय है। विद्वान् उस ग्रन्थ को तल्लीन होकर विमर्श करें और सिद्धान्त को सुस्थिर करें। वह ग्रन्थ परम माननीय है। उसका प्रामाण्य वैयाकरण, दार्शनिकशिरोमणि नागेशभट्ट के द्वारा तथा अन्यान्य धुरन्धर विद्वानों के द्वारा उद्घोषित है। नागेशभट्ट ने व्याकरण के महत्वपूर्ण 'लघुमञ्जूषा' नामक ग्रन्थ में असकृत् उद्धरणों के द्वारा उसकी मान्यता भेरीनिनाद से प्रकट की है। वह ग्रन्थ अच्युत ग्रन्थमाला काशी में मुद्रित हुआ है। उसकी दो व्याख्या उसमें उट्टङ्कित हैं। एक राघवानन्द यति की, दूसरी न्याय व्याकरणाचार्य, काशिक राजकीय संस्कृत पाठशाला 'संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' के न्यायशास्त्र प्रधानाध्यापक श्रीसूर्यनारायण शुक्ल की।

पर्यवसान में श्रीमदाचार्यचरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पणकर यह वक्तव्य परिपूर्ण करता हूँ जिनके असीम अनुग्रह से यह अद्भुत ग्रन्थ निर्मित हुआ और अहमर्थ का स्वरूप प्रकट होकर तत्संबन्धी निविड़ अन्धकार निरस्त हुआ। ओं तत्सत्।

विषयसूची

अहमर्थ और परमार्थसार

खंड : १

॥ श्री हरिः ॥

उपोद्‌घात

'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक में चार्वाक मतप्राय मार्क्स के मत का खण्डन करने के लिये आत्मस्वरूप पर विचार किया गया है। ज्ञान भौतिक है या अभौतिक? इस सम्बन्ध में मार्क्स और उसके अनुयायियों ने बहुत विचार किया है। अतः ज्ञान को अभौतिक सिद्ध करके अद्वैत वेदान्त के अनुसार उसे ही आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। उसी प्रसङ्ग से अहमर्थ के अनात्मत्व का वर्णन आ गया है। वस्तुतः मार्क्स अभिमत आत्मा के निराकरण में तो सभी आस्तिक एकमत हैं। नैयायिक, वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य, योग, उत्तर मीमांसक, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, द्वैताद्वैती सभी देहात्मवाद के खण्डन में एकमत हैं। यहाँ तक कि बौद्ध, जैन भी देहात्मवाद का निराकरण करते हैं। वेद, पुराणेतिहास, तन्त्र, आगमादि का प्रामाण्य माननेवाले सभी आस्तिक कार्यकारण संघात से भिन्न आत्मा मानते ही हैं। अनेक सम्मान्य ज्ञानी एवं भगवद्भक्त आचार्यों ने ज्ञाता अहमर्थ को ही आत्मा माना है और इस सिद्धान्त के अनुसार भी अपरिगणित महापुरुष स्वाभिमत अभ्युदय निःश्रेयस् के भागी हुए हैं अतः 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक का आपसी खण्डन-मण्डन में सर्वथा अभिप्राय नहीं है। फिर भी कुछ लोगों ने अहमर्थ के अनात्मत्व सम्बन्ध में शङ्कायें उठायी हैं, उसी के लिये यहाँ पृथक् रूप से आत्मस्वरूप पर कुछ विचार किया जायगा। वस्तुतः अद्वैती भी ज्ञाता अहमर्थ को आत्मा मानते हैं। सम्पूर्ण लौकिक वैदिक व्यवहार उसी से चलता है। हाँ, यह भेद अवश्य है कि अद्वैती सोपाधिक ज्ञाता आत्मा को अहं का वाच्यार्थ मानते हैं एवं शुद्ध, नित्य, निरतिशय ज्ञान के अर्थ को लक्ष्यार्थ मानते हैं किन्तु

अहमर्थ आत्मा उन्हें भी मानना है ही। सोपाधिक ज्ञाता अहं का वाच्यार्थ है और व्यवहार दशा में वही आत्मा है। व्यवहारातीत परमार्थ दशा में उससे भी सूक्ष्म, कूटस्थ, निर्विकार, असङ्ग, अनन्त, चित्स्वरूप आत्मा है यह भी उन्हें मान्य है। ये सभी विचार विभिन्न महापुरुषों परमाचार्यों के हैं। अतः उनको समझने विचारने का प्रयत्न करना बुरा नहीं, परन्तु इसमें आपसी रागद्वेष या गालीगलौज का प्रयोग नहीं होना चाहिए। सभी दार्शनिक आपसी विचार-विनिमय जिस प्रणाली से करते हैं अथवा लोकसभाई (पार्लियामेंट के सदस्य) जिस तरह विचार करते हैं वैसे ही इधर भी विचार आवश्यक है।

★

संविद् या आत्मा

कहा जाता है "संवित् या आत्मा नहीं है क्योंकि उसमें अहं बुद्धि नहीं होती, जहाँ पुरुष को अहं बुद्धि होती है वहीं प्रत्यक् आत्मा होता है, वह अहमर्थ है। जिसमें अहं बुद्धि नहीं होती वह घटादितुल्य पराक् और अनात्मा है", परन्तु यह ठीक नहीं। जहाँ पुरुष को अहं बुद्धि होती है, वह आत्मा है ऐसा नियम नहीं बन सकता क्योंकि 'अहं मनुष्यः, अहं काणः', इत्यादि रूप से देहादि में भी अहं बुद्धि होती है, फिर क्या देहादि को आत्मा माना जायगा? यदि कहा जाय कि विद्वान् की जहाँ अहं बुद्धि होती है वह आत्मा है तो यह भी पक्ष ठीक नहीं। देहादि को आत्मा माननेवाले बौद्धादि भी तो विद्वान् ही हैं और उन विद्वानों की आत्मबुद्धि देहादि में ही है। यदि कहा जाय कि वेदान्त-शास्त्रज्ञों की जहाँ आत्मबुद्धि हो वही प्रत्यगात्मा है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त सम्प्रदायविदों की तो निर्विकार नित्य संविद् में ही अहं बुद्धि होती है, फिर तो संविद् को ही प्रत्यागात्मा मानना उचित है। जो लोग कहते हैं कि हम लोग वेदान्तविद् हैं परन्तु संविद् में आत्मबुद्धि नहीं है तो यही कहना होगा कि सम्प्रदायप्राप्त वेदान्तार्थबोध की शून्यता ही इसका कारण है।

कहा जाता है वेदान्त में संविद् को आत्मा कहीं नहीं कहा गया है पर यह कहना ठीक नहीं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वचन स्पष्ट ही सत्य ज्ञान को ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। ज्ञान और संविद् एक ही वस्तु है 'मनोमयोऽयं भारूपः तेजोमयोऽमृतमयः' यहाँ सर्वतेज भा आदि संविद् के ही बोधक शब्द हैं। तेज आदि शब्द लौकिक प्रकाश के वाचक नहीं हैं क्योंकि उसे श्रुतियों में अशब्द, अस्पर्श, अरूप आदि कहा गया है। पराक् अर्थ से प्रत्यक् अर्थ भिन्न है यह तो इष्ट ही है। परन्तु 'अहं गच्छामि, अहं जानामि, शोचामि' इत्यादि स्थलों में जो अहमर्थ है वह पराक् ही है प्रत्यक् नहीं क्योंकि प्रत्यगात्मा में गन्तृत्व, मन्तृत्व आदि नहीं बन सकता। गमन, ज्ञान आदि इन्द्रिय, मन आदि के ही धर्म हैं। निर्धर्मक परमानन्द बोधरूप ही प्रत्यक्, तद्भिन्न सब पराक् ही है। घट पटादि ही पराक् अर्थ हैं ऐसा नहीं, देहेन्द्रिय अन्तःकरणादि भी पराक् ही है। जैसे गमनादि क्रिया का आश्रय प्रत्यगात्मा नहीं है वैसे ही ज्ञान क्रिया का भी आश्रय प्रत्यगात्मा नहीं है। कहा जाता है

"गमन क्रिया भी आत्मा का ही धर्म है क्योंकि वही परलोकगामी होता है" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि लिङ्गशरीर ही वहाँ भी परलोकगमन क्रिया का आश्रय होता है। परिपूर्ण अव्यय आत्मा का स्वतः गमनादि नहीं बन सकता। "निष्फलं निष्क्रियं शान्तं" इत्यादि के अनुसार कहा जा सकता है कि यदि आत्मा निष्क्रिय है, तद्भिन्न जड़ है तो श्रवणादि में किसकी प्रवृत्ति होगी परन्तु साधिष्ठान चिदाभास ही परलोकगमनादि का अधिकारी होता है। कहा जाता है कि चिदाभास अहमर्थ व्यावहारिक है, मुक्ति में उसका बाध या विनाश ही होगा, इस स्थिति में अहमर्थविनाश ही मोक्ष है, यह समझकर तो प्राणी मोक्ष की ओर कभी प्रवृत्त ही न हो सकेगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि लोक में देखा जाता है कि पतिव्रता नारी स्वर्गसुख के लिये पति के संग स्वविनाश की इच्छा करती हुई वह्नि में आत्मसमर्पण करती है। जन्मान्तर में राजा होने की कामना से प्रयागमरण की इच्छा भी लोग करते हैं। कुष्ठादि रोगों से अभिभूत प्राणी दुःखविनाश के लिये कूपादिपतन के द्वारा आत्मनाश सम्पादित करते हैं। इसी तरह साक्षिरूप से अवशिष्ट रहने के लिये अहमर्थ भी आत्मनाश की कामना कर ही सकता है।

यदि कहा जाय कि देहातिरिक्त आत्मा का ज्ञान पतिव्रता आदि को है इसलिये देहादिभिन्न आत्मा के स्वर्गादिसौख्य लाभार्थ स्वदेह का विनाश चाहते हैं। तब तो इधर भी चिदाभास संसारी अहमर्थ जीव नहीं है किन्तु असंसारी साक्षी ही प्रत्यगात्मस्वरूप है। उसके स्वरूप सुख की अभिव्यक्ति के लिये चिदाभास का विनाश इष्ट हो सकता है। कहा जाता है चिदाभास साक्षी कैसे हो सकेगा? क्योंकि साक्षी चेतन होता है परन्तु यह ठीक नहीं। चेतन ही उपाधिवशात् चिदाभास बनता है। जैसे वास्तविक सुख ही उपाधिवशात् प्रतिबिम्बित लौकिक सुख बनता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि चित् का आभास अप्रामाणिक है परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'मायाऽभासेन जीवेशौ करोति' माया आभास के द्वारा जीवेश का प्रादुर्भाव करती है। अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है। वही अहमर्थ है। वही वैसे ही स्वावच्छेदक अन्तःकरण नाश के लिये प्रवृत्त होता है जैसे कुष्ठादि रोगाभिभूत रोगी कुष्ठदेह के विनाश के लिये मरणार्थ प्रयत्नशील होता है। श्रवणादि में न केवल आत्मा की प्रवृत्ति हो सकती है न केवल अनात्मा की ही किन्तु दोनों के अन्योन्याध्यास से ही प्रवृत्ति होती है। सर्वथाऽपि उपहित आत्मा स्वोपाधिविनाश के लिये श्रवणादि में प्रवृत्त होता है। स्वोपाधिनाश मोक्षस्व-

नाश नहीं कहा जा सकता। फिर भी कहा जाता है "मेरे नष्ट होने पर कोई मुझसे भिन्न ज्ञप्ति अवस्थिति रहेगी तो उसकी प्राप्ति के लिये किसी का भी प्रयत्न न हो सकेगा।"

> अहमर्थ विनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
> अपसर्पेदसौ मोक्षकथा प्रस्ताव गन्धतः॥
> मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिद् ज्ञप्तिरवस्थिता।
> इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति॥

परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं क्योंकि यदि वह ज्ञप्ति आत्मा से भिन्न है तब तो अवश्य उक्त कथन सत्य है परन्तु वह ज्ञप्ति ही तो आत्मा है। तब तो स्वरूपभूत परमानन्दरूप ज्ञप्ति के अवशेषार्थ प्रत्येक कुशल प्राणी प्रयत्नशील होगा ही। फिर भी कुछ लोग कहते हैं—

> स्वसम्बन्धितया ह्यस्याः सत्ताविज्ञप्तितादि च।
> स्वसम्बन्ध वियोगे तु ज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यति॥
> छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत्।
> अतोऽहमर्थो ज्ञातैव तत्प्रत्यगात्मेति निश्चितम्॥

अर्थात् जैसे छेत्ता एवं छेद्य के रहने पर ही छेदन सिद्ध होता है उसी तरह ज्ञाता अहमर्थ एवं ज्ञेय के रहने पर ही ज्ञान सिद्ध होता है; वह ज्ञाता अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है ऐसा मानना चाहिये। परन्तु यह कहना असंगत है क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान के सम्बन्ध में यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है तथापि आत्मस्वरूप अखण्ड संविद् की सत्तादि तो स्वतःसिद्ध ही है, उसको अन्य किस आत्मा की अपेक्षा होगी, क्या आत्मा की सत्तादि अन्य सम्बन्ध से होती है? यदि नहीं तो फिर संविद् की सिद्धि अन्याधीन क्यों होगी। अन्ततोगत्वा प्रतिवाद भी तो ज्ञानस्वरूप ही आत्मा को मानता है। यदि आत्मा का स्वरूप क्रिया हो तब तो अवश्य ज्ञाता के अभाव में उसकी असिद्धि का प्रसङ्ग हो सकता है। अन्य अहमर्थ प्रत्यगात्मा नहीं हैं किन्तु संविद् ही प्रत्यगात्मा है। वही अहमर्थ का निरुपाधिक वास्तविक स्वरूप है, अहमर्थ सोपाधिक आत्मा ही है। ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूप ज्ञातृत्व आदि अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होता है। एतावता ज्ञाता अहमर्थ हो सकता है परन्तु प्रत्यगात्मा तो शुद्ध संविद्स्वरूप ही है, कूटस्थ संविद् में वास्तविक ज्ञातृत्वादि संभव नहीं।

अहं शब्द रूढि से ज्ञाता का, लक्षणा से संविद्स्वरूप प्रत्यगात्मा का बोधक होता है।

कुछ लोग कहते हैं "श्रुति, स्मृति, सूत्र आत्मा को ज्ञाता ही कहते हैं ज्ञप्तिरूप नहीं कहते" परन्तु यह ठीक नहीं। विचार यह करना चाहिये कि क्या श्रुत्यादि व्यवहार दशा में आत्मा को ज्ञाता कहते हैं या परमार्थ दशा में। व्यवहार दशा में तो आत्मा का ज्ञातृत्व इष्ट ही है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता व्यवहारपर्यन्त रहता ही है। परमार्थ दशा में ज्ञेयप्रपञ्च का अस्तित्त्व ही नहीं रहता फिर ज्ञातृत्व भी कैसे ठहर सकेगा। जो कहते हैं उस समय भी द्वैत रहता है उनके मत में अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध स्पष्ट है। द्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का व्यवहार दशा में समन्वय हो ही जाता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार विज्ञप्ति रूप ही आत्मा है यह स्पष्ट है। यदि कहा जाय ब्रह्म भले ज्ञप्ति मात्र हो परन्तु आत्मा वैसा नहीं है, पर उन्हें यह जानना चाहिये कि आत्मा ही ब्रह्म है।

आत्मा और अहम्

कुछ लोग कहते हैं "अहं प्रत्यय सिद्ध अस्मदर्थ एवं युष्मंत् प्रत्यय विषय युष्मदर्थ होता है, अतः 'अहं जानामि' इससे सिद्ध ज्ञाता को युष्मदर्थ कहना वैसा ही असंगत है जैसे अपनी माता को वन्ध्या कहना" परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण 'युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः' इत्यादि स्थलों में अस्मद् शब्द लक्षणा से शुद्ध प्रत्यक्तत्व में और युष्मद् शब्द केवल पराक् अनात्मा इदमर्थ में ही प्रयुक्त है। अहं बुद्धि विषय वस्तु से इदं बुद्धि विषय भिन्न होता है यह सभी जानते हैं। परन्तु अहं बुद्धि विषय क्या है ? इदं बुद्धि विषय क्या है ? इस विषय में विप्रतिपत्ति होती है। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि देह इदं बुद्धि का विषय है या अहं बुद्धि का ? यदि पहला पक्ष मानें तो 'स्थूलोऽहं' ऐसी प्रतीति न होनी चाहिये। यदि दूसरा पक्ष कहें तो 'ममायं देहः स्थूलः' मेरा यह स्थूल देह है ऐसी प्रतीति न होनी चाहिये। दोनों बुद्धियों का विषय माना जाय यह भी ठीक नहीं क्योंकि दोनों बुद्धियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। अतः देह को दो में किसी एक बुद्धि का विषय कहना पड़ेगा। इसलिये स्थूलोऽहं इत्यादि प्रतीति को भ्रम ही मानना उचित है। इसी तरह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि भी इदं प्रत्यय के ही विषय हैं। इनमें 'अहं काणः पश्यामि, जानामि' इत्यादि प्रतीतियाँ भ्रान्तिभूत ही हैं। इस तरह 'कृशोऽहं गच्छामि, पश्यामि' इत्यादि अहं प्रत्ययसिद्ध कृश, गन्ता, द्रष्टा आदि पदार्थ क्या अस्मद् शब्दार्थ है या युष्मद् शब्दार्थ ? पहले पक्ष में स्पष्ट ही देहाद्यात्मवाद का प्रसङ्ग होगा। यदि दूसरा पक्ष मान्य होगा तब भी व्याघात ही होगा क्योंकि अहं प्रतीति होने पर भी युष्मदर्थ कहना विरुद्ध ही है। तस्मात् कहना यही ठीक है कि जैसे रज्जु को सर्प एवं सर्प को रज्जु भ्रान्ति से समझा जाता है वैसे ही अस्मदर्थ को युष्मत् प्रत्यय विषयत्वेन और युष्मदर्थ को अस्मद् प्रत्यय विषयत्वेन भ्रान्ति से ग्रहण किया जाता है। अतः जैसे अहं कृशः यह भ्रान्ति है वैसे ही अहं, ज्ञाता यह भी भ्रान्ति ही है। जैसे देह तादात्म्याध्यास से आत्मा में कृशत्व की भ्रान्ति होती है वैसे ही अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ज्ञातृत्व की भी भ्रान्ति होती है। कहा जाता है कि आत्मा का ज्ञातृत्व श्रुत्यादिसिद्ध है अतः प्रमाणभूत है। परन्तु श्रुत्यादि तो व्यावहारिक ज्ञातृत्व का अनुवाद ही करते हैं अतः स्पष्ट रूप से

श्रुत्यादि आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह अर्थ ज्ञाता माननेवाले भी स्वीकृत करते हैं। अतः 'अहं कृशः' के तुल्य ही 'अहं जानामि' यहाँ भी अहं शब्दार्थ अनात्मा ही है। युष्मदर्थ में भी भ्रांति से अहं प्रत्ययविषयता होती है यह कहा भी जा चुका।

कुछ लोग कहते हैं "अहमर्थ ज्ञाता आत्मा का चैतन्य स्वभाव है। वही उसकी स्वप्रकाशता है। चेतना ज्ञान है। उसका भाव ही ज्ञानत्व है। वही चैतन्य है। चैतन्यगुणक आत्मा है।" परन्तु यह ठीक नहीं, घट के घटत्व के तुल्य ज्ञान का ज्ञानत्व गुण है। ज्ञानत्वगुणक आत्मा ज्ञान ही हुआ। इससे ज्ञातृत्वसिद्धि कैसे होगी? क्योंकि चैतन्य में चैतन्यान्तर नहीं हो सकता है। कहा जाता है ज्ञान में ज्ञानत्व रहता है। वही स्वप्रकाशत्व है, पर यह ठीक नहीं। स्वयंप्रकाश ज्ञान इस कथन में ज्ञान विशेष्य है एवं स्वयंप्रकाश विशेषण। फिर स्वयंप्रकाशत्व ज्ञानत्व कैसे हो सकता है? 'नीलमुत्पलं' इस स्थिति में उत्पलत्व नीलत्व कैसे हो सकता है? कहा जाता है "नीलोत्पल से भिन्न नीलरत्नादि पदार्थान्तर होते हैं। अतः वहाँ नीलत्व उत्पलत्व न हो परन्तु प्रकृत में तो स्वयंप्रकाश ज्ञान से अतिरिक्त स्वप्रकाश कोई पदार्थ है ही नहीं अतः स्वयंप्रकाशत्व ज्ञानत्व हो सकता है।"

इस पर कहना यह है कि जब ज्ञान से अतिरिक्त स्वयंप्रकाश कोई पदार्थ नहीं है तब ज्ञाता आत्मा भी कैसे स्वप्रकाश होगा? यदि कहा जाय कि ज्ञान में ज्ञानत्व स्वप्रकाशत्व है परन्तु ज्ञाता में ज्ञातृत्व तो ज्ञानगुणकत्वरूप ही है। तब फिर उभयानुगत कोई स्वप्रकाशत्व नहीं सिद्ध होता।

कहा जाता है "जैसे दीप और संविद् में एक प्रकार का अनुगत स्वप्रकाशत्व नहीं है तैसे ही दीप, संविद् एवं ज्ञाता में अनुगत स्वप्रकाशत्व न रहने पर भी कोई हानि नहीं है, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैत मत में संविद् से भिन्न स्वप्रकाश कोई भी तत्त्व इष्ट नहीं है। अतएव 'तमेव भान्तमनुभातिसर्वं' यह श्रुति आत्मप्रकाश से ही सर्वप्रकाश बतलाती है।

कहा जाता है "फिर भी इस श्रुति में 'तस्यभासा' (उसके प्रकाश से) आत्मा और उसके प्रकाश (संविद्) का भेद ही सिद्ध होता है" पर यह ठीक नहीं है क्योंकि 'राहोः शिरः' के समान यह भेद औपचारिक ही है। यदि चैतन्यस्वभावता शब्द का ज्ञानगुणक अर्थ किया जाय तो भी प्रश्न होगा कि चैतन्य स्वभाव का आत्मा किं रूप है? यदि कहा जाय चैतन्य रूप तो यह

ठीक चैतन्य तो नहीं क्योंकि आत्मा का स्वभाव हुआ वह आत्मा का रूप नहीं। यदि जड़ रूप कहें तो घटादि तुल्यतापत्ति होगी, श्रुतिविरोध भी होगा।

सूत संहिता में भी अहं शब्द का अर्थ आत्मा माना गया है। परन्तु वह उपलक्षित ही है वाच्य नहीं।

अस्ति तावदहं शब्द प्रत्ययालम्बनं परम्।
सर्वेषां नः परं ज्ञानं स एवात्मा न संशयः॥
सोऽयं स्वाविद्यया साक्षाच्छिवः सन्नपि वस्तुतः।
स्वशिवत्वमविज्ञाय संसारीवावभासते॥ यज्ञ वै १२।

अहं प्रत्यय का विषय आत्मा सभी को विदित है। वह परज्ञान रूप है। वह साक्षात् शिव है। अपनी अविद्या शक्ति से वह अपने शिवत्व को न जानकर संसारी सा प्रतीत होता है। परन्तु इससे विशिष्टाद्वैतियों का कर्ता, भोक्ता आत्मा अहमर्थ है, यह नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि वहाँ आगे स्पष्ट कहा है कि प्रत्यक् ब्रह्म की एकता को प्राप्त या जान करके अहं शब्दोपलक्षित आत्मरूप एक अद्वन्द्व शिव को प्राप्त हो जाता है। ये सब बातें विशिष्टाद्वैत में नहीं मान्य हैं।

प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानं लब्ध्वा याति शिवं परम्।
प्रत्यगात्मानमद्वन्द्वमहं शब्दोपलक्षितम्॥

यज्ञ वै सूत गीतायां ५.६—

रुद्र विष्णु प्रजानाथ प्रमुखाः सर्व चेतना।
स्वर सेनाहमित्याहुरिदमित्यपि च स्वतः॥
इदं बुद्धिश्च बाह्यार्थे त्वहं बुद्धिस्तथात्मनि।
प्रसिद्धा सर्वजन्तूनां विवादोऽत्र न कश्चन॥
इदमर्थे घटाद्यर्थेऽनात्मत्वं सर्वदेहिनाम्।
अहमर्थे तथात्मत्वमपि सिद्धं स्वभावतः॥
यत्र यत्रेदमित्येषा बुद्धिर्दृष्टा स्वभावतः।
तत्र तत्र त्वनात्मत्वं विज्ञातव्यं विचक्षणैः॥
यत्र यत्राहमित्येषा बुद्धिर्दृष्टा स्वभावतः।
तत्र तत्र तथात्मत्वं विज्ञातव्यं मनीषिभिः॥

शरीरालम्बना बुद्धिरिदमित्यास्तिकोत्तमाः।
चिदात्मालम्बना साक्षादहं बुद्धिर्न संशयः॥
इदमर्थे शरीरे तु याहमित्युदितामतिः।
सा महाभ्रान्तिरेव स्यादतस्मिंस्तद् ग्रहन्वतः॥
अचित्वादिन्द्रियाणाञ्च प्राणस्य मनसस्तथा।
आलम्बनत्वं नास्त्येव बुद्धेश्चाहं मतिं प्रति॥

उक्त प्रघट्टक में कहा गया है कि इदं पदार्थ घटादि अनात्मा है। अहं पदार्थ शुद्ध आत्मा है। सभी प्रमुख चेतन आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। देहादि में अहं शब्द का प्रयोग भ्रान्ति ही है। अचित् होने से अहंकार भी अहं शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं है। यहाँ लक्ष्यार्थ को ही मुख्यार्थ कहा गया है जैसे तत्वमसि का ऐक्य लक्ष्यार्थ होने पर भी वही मुख्यार्थ माना जाता है।

बुद्धेरचित्वं संग्राह्यं दृष्टत्वाज्जन्मनाशयोः।
अचिद्रूपस्य कुड्यादेः खलु जन्मविनाशनम्॥
अहङ्कारस्य चाचित्वाच्चित्तस्य च तथैव च।
आलम्बनत्वं नास्त्येव सदाहं प्रत्ययं प्रति॥
सर्व प्रत्यय रूपेण सदाहङ्कार एव हि।
विवर्ततेऽतोऽहङ्कारस्त्वनात्मैव शरीरवत्॥
तस्माच्चिद्रूप एवात्मा अहं बुद्धेरर्थ आस्तिकाः।
अचिद्रूपमिदं बुद्धेरनात्मैवार्थ ईरितः॥
सत्यपि प्रत्ययार्थत्वे प्रत्यगात्मा स्वयंप्रभः।
वृत्त्यधीनतया नैव विभाति घट कुड्यवत्॥
स्वच्छ वृत्तिमनुप्राय वृत्तेः साक्षितया स्थितः।
वृत्या निवर्त्यमज्ञानं ग्रसते तेन तेजसा॥
अहं वृत्तिः स्वतःसिद्ध चैतन्ये ह्यऽवभासते।
तत्सम्बन्धादहङ्कारः प्रत्यत्यीव प्रकाशते॥
आत्माहं प्रत्ययाकार सम्बन्ध मात्रतः स्वयम्।
कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी ज्ञातेति प्रतिभासते॥
वस्तुतस्तस्य नास्त्येव चिन्मात्रादपरं वपुः।
चिद्रूपमेव स्वाज्ञानादन्यथा प्रतिभासते॥

सर्वदेहेष्वहंरूपः प्रत्ययो यः प्रकाशते ।
तस्य चिद्रूप एवात्मा साक्षादर्थो न चापरः ॥
गौरिति प्रत्ययस्यार्थो यथा गोत्वं तु केवलम् ।
तथाहं प्रत्ययस्यार्थश्चिद्रूपात्मैव केवलम् ॥
व्यक्ति सम्बन्धरूपेण गोत्वं भिन्नं प्रतीयते ।
चिदहंकारसम्बन्धाद्भेदेन प्रतिभाति च ॥
यथैवेकोऽपि गो शब्दो भिन्नार्थो व्यक्तिभेदतः ।
यथा प्रतीत्या गो व्यक्तिर्गो शब्दार्थो न तत्वतः ॥
तत्वतो गोत्वमेवार्थः साक्षाद्वेदविदांवरा ।
तथा प्रतीत्याहङ्कारोऽहं शब्दार्थो न तत्वतः ॥
तत्वतः प्रत्यगात्मैव स एवाखिलसाधकः ।
एकत्वेऽपि पृथकत्वेऽपि न व्यपदेशोऽवियुज्यते ॥
अन्तःकरण भेदेन साक्षिणः प्रत्यगात्मनः ।
सुषुप्तोऽस्मीति सर्वोऽयं सुषुप्तादुत्थितो जनः ॥
सुषुप्तिकालीनस्वात्मन्यहं शब्दं द्विजोत्तमाः ।
प्रयुङ्क्ते तत्र देहादि विशेषाकार भासनम् ॥
नहि केवल चैतन्यम् सुषुप्तेः साधकं स्वतः ।
प्रतिभाति ततस्तस्मिंश्चिन्मात्रे प्रत्यगात्मनि ॥
अहं शब्द प्रवृत्तिः स्यान्नतु सोपाधिकात्मनि ।
यथायो दहतीत्युक्ते वह्निर्दहति केवलम् ॥
नायो तद्वदहं शब्दश्चैतन्यस्यैव वाचकः ।
प्रतीत्या वह्निसम्बन्धाद्यथायो दाहकं भवेत् ॥
तथा चित्सम्बन्धादहंकारोऽहं शब्दार्थः प्रकीर्तितः ।
चैतन्येद्धादहमः स्पर्शाद्देहादौ भ्रान्तचेतसाम् ॥
अहं शब्द प्रयोगः स्यात्तथाहं प्रत्ययोऽपि च ।
रुद्र विष्णु प्रजानाथप्रमुखाः सर्व चेतनाः ॥
अहमेव परं ब्रह्मेत्याहुरात्मानमेव हि ।
ते तु चिन्मात्रमद्वैतमहमर्थतया भृशम् ॥
अङ्गीकृत्याहमद्वैतं ब्रह्मेत्याहुर्न देहतः ।
चिन्मात्रं सर्व गन्तव्यं सम्पूर्णं सुखमद्वयम् ॥
साक्षाद्ब्रह्मैव नान्यदिति तत्वविदां स्थितः ।

अचिद्रूप होने से ही मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, अहङ्कार ये कोई अहं प्रत्यय के आलम्बन नहीं हैं। ये सब अचिद्रूप होने से ही घट कुड्यादि के समान जन्म मरणवाले हैं। अहङ्कार भी अहं प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता क्योंकि वह भी अचित् है। अहं सुखी, अहं दुःखी इत्यादि अनेक रूप से अहङ्कार का परिणाम होता रहता है। इसीलिये शरीर के समान अहङ्कार भी अनात्मा है। अतः अहं का आलम्बन नहीं होता। चिद्रूप आत्मा ही अहं का अर्थ है। अचिद्रूप सब इदं बुद्धि का विषय है। देहेन्द्रियादि सभी चिद्भास्य होने से अचित् हैं। वह इदं प्रत्यय का गोचर है। चिद्रूप आत्मा अहं प्रत्यय का गोचर होने पर भी आत्मा स्वयंप्रभ है। घट कुड्यादि के समान उसका वृत्तिपरतन्त्र प्रकाश नहीं होता है किन्तु स्वच्छ वृत्ति का विषय होकर भी वृत्ति के साक्षिरूप से स्थित हो वृत्ति के द्वारा निवर्त्य अज्ञान को अपने तेज से ग्रस्त कर लेता है। वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य के सम्बन्ध द्वारा वृत्ति भी घटादि जड़ पदार्थों को प्रकाशते हैं। आत्मा तो वृत्तिव्याप्ति का विषय होने पर भी वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य के द्वारा प्रकाशित न होने से आत्मा अहं प्रत्यय का विषय होने पर घटादि तुल्य अनात्मा नहीं होता। किन्तु स्वयं-प्रकाश रूप से वह आत्मा ही है। जिसके सम्बन्ध से अहं वृत्ति भी प्रत्यय रूप से प्रकाशित होती है वह स्वप्रकाश वृत्त्यधीन कैसे प्रकाशित होगा। अहं वृत्ति भी स्वतःसिद्ध चैतन्य से दीप्त होकर अवभासित होती है। उसी के सम्बन्ध से अहङ्कार ज्ञानवान् या ज्ञाता कहा जाता है। वस्तुतः जड़ अहङ्कार ज्ञाता नहीं हो सकता। वस्तुतः ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ज्ञाता है। वह भी कर्तृत्वादि धर्मवान् अहङ्कार के साथ तादात्म्य होने से ही आत्मा में कर्तृत्व, सुखित्व, ज्ञातृत्व की प्रतीति होती है। परमार्थतः चिन्मात्र से अन्य आत्मा का दूसरा रूप नहीं। अहंकार एवं चैतन्य के परस्पर सम्बन्ध से आत्म धर्म-प्रत्ययित्व अहंकार में अध्यस्त होता है। अहंकार धर्म कर्तृत्वादि आत्मा में भासित होता है, विवेक से चिन्मात्र ही आत्मस्वरूप अवशिष्ट रहेगा।

कहा जाता है कि फिर भी सुप्ति में अहंकार सहित चैतन्य में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। चिदात्मा के समान ही अहङ्कार में भी अहं शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि सुप्ति में देहादि विशेषाकार का भान नहीं होता। उस समय अहंकार भी नहीं होता किन्तु वह स्वकारण अविद्या में लीन होता है। सुप्ति में समस्त विशेषों का प्रतिभाना-भाव रहता है। यदि विशेष प्रतिभान हो तो सुप्ति ही नहीं रह सकती है।

अतः सुति में अहंकारादि रहित आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग होता है। अतः सर्वत्र आत्मा ही अहं शब्द का अर्थ है। सुति का द्रष्टा केवल चैतन्य ही स्वतः भासमान होता है। उस चिन्मात्र में अहं शब्द की प्रवृत्ति होती है सोपाधिक आत्मा में नहीं, यथा 'अयो दहति' ऐसा कहने पर वह्नि में ही दाहकत्व निश्चित होता है लौह में नहीं। वैसे अहं शब्द भी आत्मा में ही मुख्य है अनात्मा में नहीं। जैसे प्रतीतिवशात् वह्नि सम्बन्ध से ही लौह में दाहकत्व होता है वैसे चित्सम्बन्ध से ही अहंकार अहं शब्दार्थ होता है। वस्तुतः नहीं। चैतन्येद्ध अहं के स्पर्श से देहादि में भी भ्रान्तों का अहं पद प्रयोग होता है। इस तरह विवेक से देह, प्राण, अन्तःकरण आदि को स्वात्मा से पृथक् विभक्त करके सर्वसाक्षी स्वयंज्योति सत्य अद्वैत आनन्दस्वरूप आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। रुद्रादि प्रमुख चेतन आत्मा को 'अहमेव परं ब्रह्म' मैं ही पर-ब्रह्म रूप हूँ ऐसा कहते हैं। वे लोग अद्वैत चिन्मात्र को ही अहमर्थ रूप से अंगीकार करके 'अहं अद्वैतं ब्रह्मेत्याहुः' मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ ऐसा कहते हैं।

इस प्रसंग में भी सर्वथा अहं शब्द का प्रयोग आत्मा में लक्षणा से ही बतलाया गया है। अतएव अहङ्कारोपलक्षितं कहा गया है। वैसे आत्म ब्रह्म आदि शब्दों की भी शुद्ध ब्रह्म या आत्मा में लक्षणा से ही प्रवृत्ति होती है। इस तरह यदि अहं शब्द आत्मवाची माना जाय तो भी अहं शब्द का वाच्य आत्मा नहीं हो सकता है। पूर्व के भी सभी कथनों का भी यही सार था कि शुद्ध आत्मा अहं शब्दवाच्य अर्थ नहीं है। अहं का लक्ष्यार्थ रूप अहमर्थ आत्मा तो हो ही सकता है। परन्तु इससे भी प्रतिवादि पक्ष नहीं सिद्ध होता है। इसमें जीव ब्रह्म की एकता एवं आत्मा का चिन्मात्र रूप अकर्ता अभोक्ता नित्य ब्रह्मस्वरूप है। वस्तु स्वरूप में कोई अन्तर नहीं, नाम मात्र में विवाद का कुछ अर्थ नहीं होता है। यदि कोई शून्य आदि शब्दों से भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अद्वैत, अखंडबोध आत्मा को स्वीकार करे तो सिद्धांत में कोई हानि नहीं होती है।

आत्मा का स्वप्रकाशत्व

यदि कहा जाय कि "चैतन्य आत्मा का स्वरूप भी है और स्वभाव भी" तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक ही चैतन्य में स्वरूपत्व, स्वभावत्व दोनों ही नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य से स्वभावभूत चैतन्य भिन्न ही है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि दो प्रकार के चैतन्य की कल्पना गौरव भी है और अप्रामाणिक भी। जब एक ही चैतन्य से निर्वाह हो जाता तो चैतन्यान्तर कल्पना व्यर्थ भी है। यह भी प्रश्न होगा कि क्या स्वरूपभूत चैतन्य स्वप्रकाश है? या स्वभावभूत चैतन्य? यदि पहला पक्ष है तब तो अस्वयंप्रकाश ज्ञान स्वभाव ही आत्मा हुआ, पर यह अभीष्ट नहीं। यदि स्वभावभूत चैतन्य को स्वप्रकाश कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभावभूत चैतन्य की स्वप्रकाशता यदि ज्ञानस्वभावत्व रूप ही है तब तो स्वभावभूत ज्ञान में स्वभावभूत ज्ञानान्तर मानना होगा तथा च अनवस्था होगी। आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य की स्वप्रकाशता भी चैतन्यस्वभावता नहीं है।

कहा जाता है "यदि एक संविद् ही स्वप्रकाश है तब तो दीपादि की स्वप्रकाशत्व प्रसिद्धि क्यों है?" परन्तु इसका समाधान यही है कि जैसे कोई घट देखने के लिये दीपक की अपेक्षा करता है वैसे दीपक को जानने के लिये अन्य दीप की अपेक्षा नहीं करता। इसीलिये दीप को स्वप्रकाश कह दिया जाता है। फिर भी जैसे घर देखने के लिये दीप की अपेक्षा होती है वैसे ही दीप को देखने के लिये चक्षु की अपेक्षा होती है। अतः दीप वस्तुतः स्वप्रकाश नहीं है। जिसको जानने के लिये अन्य किसी की भी अपेक्षा न हो वही स्वप्रकाश होता है, ऐसी वस्तु संविद्स्वरूप आत्मा ही है।

कहा जाता है कि "इस तरह तो आत्मा को भी जानने के लिये मन एवं शास्त्र की अपेक्षा होती है" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि जो मन या शास्त्र से आत्मा (अपने) को देखना चाहता है वह द्रष्टा व्यापार से पहले ही सिद्ध है। इस तरह आत्मदर्शन स्वतःसिद्ध ही है। ज्ञेय देखने के लिये ही कारण की अपेक्षा हुआ करती है, ज्ञान देखने के लिये नहीं, इसीलिये ज्ञान स्वप्रकाश ही है। वही आत्मा है। ज्ञान ही ज्ञाता आत्मा का वास्तविक रूप है।

संविद् का स्वरूपभूत प्रकाश अनन्याधीन ही है, अतः वह स्वप्रकाश है। आत्मा, संविद्, प्रकाश आदि शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं।

जैसे कालादि की आपेक्षिक नित्यता होती है वैसे ही घटादि की अपेक्षा दीपादि की आपेक्षिक स्वप्रकाशता भी कही जाती है। दीपादि अपनी प्रभा के बल से भासित होते हैं, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रभापुंज ही तो दीप है। जो कहा जाता है कि गृह के भीतर सर्वभागव्यापि प्रकाशप्रभा है और उसका उद्गम स्थान ज्वालाविशेष दीप है, यह ठीक नहीं क्योंकि दीपज्वाला भी प्रभा ही है। कहा जाता है "दीपज्वाला ही प्रभा है परन्तु ज्वालावान् दीप अन्य है" किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि ज्वाला से भिन्न दीप कोई वस्तु नहीं है। कहा जाता है "वर्ति के अग्रवर्ती दीप होता है। उसके ऊपर दो या तीन अंगुल ऊँची ज्वाला है" पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि वर्ति के अग्रभागवाला दीप भी रक्तवर्ण प्रभा से भिन्न नहीं है। प्रभा कान्ति ही है। तेज से भिन्न दीप का कोई रूप नहीं ठहरता है। अग्नि ही दीप है। अग्नि तेज ही है। वह भी भूत-विशेष ही है। तेजोवान् द्रव्य भूत है यह पक्ष ठीक नहीं। यदि तेजोवान् अग्नि हो तब तो तेजोवान् काष्ठादि उल्मुक भी अग्नि कहा जायगा। यदि काष्ठ आदि भी अग्नि है तब तो तेजोवती वर्तिका भी अग्नि ही होगी परन्तु यह सब ठीक नहीं है। अतः प्रभा से निर्भासित घटादि के तुल्य दीप कोई पदार्थान्तर नहीं है। यदि हो तो उसे प्रभा से पृथक् उपलब्ध होना चाहिये। यदि दीप अपनी प्रभा से भासित होता हो तो भासन के प्रथम दीप किस प्रकार का होता है यह भी बताना चाहिये। पूर्व में अभासित वस्तु पश्चात् भासित कहा जाता है। वह अभासित दीप क्या है? जिसका भासन होता है। इसलिये दीप भासता ही है। स्वेन (अपने से) भासित होता है ऐसी बात नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर कर्मकर्तृ विरोध अनिवार्य हो जायगा, हाँ वह अन्य घटादि प्रकाशन करता है। इसी तरह संविद्रूप आत्मा भी स्वयं भासमान होता हुआ अन्य का भासन करता है। प्रभा से भिन्न प्रभावान् कोई द्रव्य नहीं है। अतएव एक ही तेजोद्रव्य प्रभा एवं प्रभावान् रूप में व्यवस्थित होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है। कहा जाता है मणि आदि पदार्थ प्रभावान् हैं पर यह भी ठीक नहीं। मणि आदि तेजोद्रव्य हैं ही नहीं क्योंकि उष्णस्पर्शवान् होना ही तेज का लक्षण है, दीप उष्णस्पर्शवान् है अतः तेज ही है। मणि आदि में उष्णस्पर्श नहीं होता अतः वह तेज नहीं। जो मणि आदि में कान्ति होती है वह मणिगत तेज का ही अंश है। मणि घटादि के समान केवल मृण्मय नहीं है, दीप के

समान तेजोमय भी नहीं है, किन्तु वह उभयमय है। इसी तरह चन्द्र भी जल तेजोमय है, सूर्य तेजोमय है। इसी प्रकार अग्नि भी तेज ही है। मणि में तेज की सत्ता होने से वह तेजोवान् द्रव्य है परन्तु दीप तो तेज ही है। तेजोवान् द्रव्य नहीं।

कहा जाता है कि "प्रभा प्रभावान् का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। दीपस्पर्श से वस्त्रादि प्रज्वलित हो जाते हैं परन्तु प्रभा से नहीं प्रज्वलित होते। दीपादि के अदर्शन में भी उनकी प्रभा आदि का दर्शन होता है।" पर यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि दीप से पृथक् प्रभा का दर्शन होने पर भी प्रभा से भिन्न दीप नहीं उपलब्ध होता। संहतावयवद्व्यङ्गुलादिपरिमाण ज्वालामय, प्रभामय दीप होता है, उसी का सर्वगृहव्यापी विरलावयव प्रकाश प्रभा कही जाती है। इस तरह एक ही तेजो द्रव्य अपने अवयवों की विरलता एवं घनिष्ठता से प्रभा, प्रभावान् इन दो शब्दों से व्यवहृत होता है। घनिष्ठ अवयव योग से ही वस्त्रादि का प्रज्वलन एवं अधिक उष्णतादि प्रतीति होती है। विरलावयव योग से उष्णतादि की अल्पता और अप्रज्वलनादि की उपपत्ति होती है।

कहा जाता है कि "फिर तो इसी दृष्टान्त के अनुसार एक ही ज्ञान द्रव्य ज्ञान एवं ज्ञानवान् आत्मा के रूप में व्यवस्थित होता है।" परन्तु ऐसा मानने पर आत्मा में सावयव अनित्यत्व आदि दोष भी लागू होंगे अतः निरवयव आत्मा में उक्त व्यवस्था लागू नहीं हो सकती। आत्मा निरवयव रूप से सभी आस्तिकों को मान्य है। ज्ञान भी निरवयव ही है वही आत्मा का स्वरूप है।

जैसे दीप प्रभारूप एवं प्रभागुणवाला है वैसे ही आत्मा भी चिद्रूप एवं चैतन्य स्वभाव है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि निरवयत्व सावयत्व रूप से दोनों में अत्यन्त वैषम्य है। फिर भी कहा जाता है कि यदि आत्मा ज्ञान-स्वरूप ही है ज्ञानधर्मक नहीं तो आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व नहीं बनेगा क्योंकि ज्ञानधर्मकत्व ही स्वप्रकाशत्व है, परन्तु यह ठीक नहीं; ज्ञानस्वरूपत्व ही स्वप्रकाशत्व है उसके लिये ज्ञानधर्मक होने की आवश्यकता नहीं।

कहा जाता है जैसे दीप स्वधर्मभूत प्रभानिरपेक्ष प्रकाशवान् होने से स्वप्रकाश है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वधर्मभूत ज्ञाननिरपेक्ष प्रकाशवान् होने से स्वप्रकाश है, परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि दीप की भी स्वरूपभूत प्रकाश से भिन्न धर्मभूत प्रभा अमान्य ही है। सर्वगृहवर्तिनी प्रभा भी दीप का स्वरूप ही है। तमोनिवर्तकत्व ही दीप का धर्म है फिर भी राहोः शिरः के तुल्य ही दीप की प्रभा इस प्रकार भेद व्यवहार होता है।

कहा जाता है "स्वरूपभूता द्व्यङ्गुलादिपरिमिता प्रभा ज्वाला ही है" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि दीप की स्वरूपभूता प्रभा का ही जो संहतावयवांश है वही ज्वाला है एवं जो विसृमर विरलावयवांश है वही प्रभा है। यदि दीप का उष्णता के समान ही प्रभा भी धर्म हो तब तो जहाँ दीप हो वहीं प्रभा होनी चाहिये। परन्तु दीप वर्ति के अग्रभाग पर ही होता है किन्तु प्रभा गृहव्यापिनी होती है। धर्म धर्मी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता।

यदि कहा जाय कि "प्रभा दीप है तो दीप के तुल्य ही प्रभा में भी औष्ण्य क्यों नहीं उपलब्ध होता?" परन्तु इसका उत्तर यह है कि प्रभा में जितनी अवयवों की सान्द्रता होती है उतनी ही उष्णता का उपलम्भ होता है। जहाँ प्रभा में विरलता की अधिकता होती है वहां उष्णता अति सूक्ष्म होने से उपलब्ध नहीं होती, यह नहीं कि उसमें उष्णता है ही नहीं; परन्तु इस तरह एक ही प्रभा जैसे दीप का स्वरूप एवं स्वभाव है उसी तरह एक ही चैतन्य आत्मा का स्वरूप एवं स्वभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि निरवयव में यह तारतम्य ही नहीं बन सकता। अतएव धर्मभूत ज्ञान यहाँ (अद्वैतिमत में) वृत्तिरूप ही मान्य है। वह स्वरूप से अन्य ही है।

कहा जाता है "यदि दीप की स्वरूपभूता ही प्रभा है तो प्रभा में भी दीप-बुद्धि क्यों नहीं होती।" परन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि यह दोष दो उभय पक्ष में तुल्य ही है। विपक्षी मत में ही क्यों दीप की स्वरूपभूता प्रभा में दीप-बुद्धि होती है, दीप की स्वभावभूता प्रभा में दीपबुद्धि नहीं होती? अतः मानना होगा कि निविडावयवप्रभा भाग में लोग दीपज्वाला एवं विरलावयव में प्रभा का व्यवहार करते हैं। वस्तुतः ज्वाला और प्रभा सभी दीपस्वरूप ही हैं क्योंकि उन दोनों से भिन्न दीप का अन्य कोई स्वरूप है ही नहीं। फिर भी यदि ज्वाला ही दीप का स्वरूप है, प्रभा धर्म है, ऐसा ही आग्रह हो तो फिर प्रभा दीप का स्वरूप भी है, धर्म भी है, यह कथन संगत न होगा। क्योंकि एक ही वस्तु किसी का स्वरूप और धर्म दोनों नहीं हो सकती। चिद्रूपता स्वयंप्रकाशता है यह कथन भी चैतन्यस्वभावता स्वयंप्रकाशता है इस कथन से विरुद्ध है। सिद्धान्त में अनन्यावभास्यत्व एवं अन्याभासकत्व ही स्वप्रकाशत्व है। चिद्रूप होने से उसमें यह दोनों बातें संगत होती हैं।

कहा जाता है "ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानगुणक आत्मा है। इस सम्बन्ध में 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। इसमें

स्पष्ट विज्ञाता की विज्ञाति का वर्णन है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं। यहाँ विज्ञाता की स्वरूपभूत विज्ञाति का विलोप नहीं होता यही अर्थ है अर्थात् अन्तःकरणादि तादात्म्याध्यास से द्रष्टृत्वादि धर्मवान् रूप से यद्यपि आत्मा की प्रतीति होती है तथापि वस्तुतः वह ज्ञानरूप ही है। ज्ञाता का ज्ञान धर्म है, स्वरूप नहीं, यह प्रतिपक्षी भी नहीं मानता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा है यह तो उभय संमत है। तस्मात् स्वप्रकाश आत्मा चिद्रूप ही है ज्ञाता नहीं अतएव प्रतिपक्षी ने भी पीछे ज्ञानत्व को ही स्वप्रकाश कहा है।

"अजड़ होने से संविद् रूप ही आत्मा है।" इस पर विचार उठता है कि अजड़त्व क्या है ? स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व ही यदि अजड़त्व है तब तो दीपादि भी ऐसे ही हैं, उन्हें भी अजड़ कहना होगा। इसके अतिरिक्त अद्वैती संविद् से भिन्न प्रकाशरूप धर्म मानता ही नहीं फिर तो स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाश आत्मा असिद्ध भी है। यदि कहा जाय कि जिसकी सत्ता प्रकाश से कभी व्यभिचरित न हो वह अजड़ है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुखादि में यह लक्षण व्यभिचरित है। सुखादि की सत्ता भी प्रकाश के बिना नहीं रहती अतः उसे भी अजड़ कहना होगा। परन्तु अद्वैती के यहाँ वैषयिक सुख जड़ ही मान्य है। 'स्वस्मै प्रकाशमानत्व' (अपने लिये प्रकाशमान् होना) यह संविद् में असिद्ध ही है। क्योंकि संविद् तो अपने से भिन्न अहमर्थ के लिये भासमान होती है। परन्तु यह सब कथन अयुक्त है क्योंकि 'स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व ही अजड़त्व है,' ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है। दीपादि में व्यभिचार भी नहीं क्योंकि दीपादि घटादि के तुल्य ही चक्षु के द्वारा भास्य होते हैं, स्वसत्ता मात्र से प्रकाशमान नहीं होते हैं। अतएव चक्षु के निमीलन होने पर घट के समान दीप भी प्रस्फुरित नहीं होता। परन्तु संविद् का प्रकाश तो स्वसत्ता मात्र मूलक है वह अन्यसापेक्ष नहीं है। वह प्रकाश भी उसका स्वरूप ही है, धर्म नहीं। अतः असिद्धि एवं विरोध आदि भी नहीं है। अथवा यहाँ प्रकाश का अर्थ है व्यवहार का विषय होना, जब तक व्यवहार है तब तक संविद् व्यवहार का विषय मान्य ही है। इसी तरह अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताकत्व रूप भी अजड़त्व कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं। इसका अर्थ यह है कि जिसका प्रकाश और सत्ता दोनों ही व्यभिचरित नहीं, वह अव्यभिचरित सत्ताक है। किन्तु सुखादि का तो प्रकाश और सत्ता दोनो ही व्यभिचारी है। जन्म के प्राक् एवं ध्वंस के पश्चात् सुखादि की सत्ता और प्रकाश दोनो ही नही रहते। सुख सद्भाव

दशा में सुख प्रकाश रहता है। इतने मात्र से सुख को अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताक नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जाय कि "जिसकी सत्ता प्रकाशव्यभिचारी न हो वही अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताक है। सुखादि ऐसे हैं अतः उनमें व्यभिचार होगा ही", तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि लक्षण में प्रकाश शब्द से स्वरूपभूत प्रकाश ही विवक्षित है। स्वस्मै भासमानत्व रूप अजड़त्व भी ठीक ही है। अहमर्थ आत्मा वस्तुतः संविद्रूप ही है। अतः स्वस्मै भासमानत्व भी उपपन्न होता है। अजड़त्व स्वयंप्रकाशत्व एक ही बात है पर प्रकाश्यत्व ही जड़त्व है और अनन्यावभास्यत्व और अन्यावभासकत्व ही स्वप्रकाशत्व है। संविद् किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होती किन्तु अन्य सब का वही भासक है।

कहा जाता है "यदि ज्ञानकर्मता के बिना अर्थात् ज्ञान का कर्म हुए बिना व्यवहारानुगुण होना स्वप्रकाशत्व है? या ज्ञानान्तरनिरपेक्ष जिसका प्रकाश हो वही स्वप्रकाश है। पहली बात ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाता भी ज्ञानकर्म हुए बिना ही व्यवहार्य होता है अतः उसमें स्वप्रकाशत्व लक्षण अतिव्याप्त है। द्वितीय पक्ष भी असिद्ध है क्योंकि संविद् भी स्वरूपभूत ज्ञान के अधीन है। अतः अहमर्थ ही स्वप्रकाश है संविद् नहीं।" परन्तु यह सब कथन भी असंगत ही है। ज्ञाता आत्मा की स्वरूपभूता ही संविद् है। अतः वह आत्मा की स्वप्रकाशता संविद् की ही है। यदि संविद् से अन्य ही ज्ञाता मान्य है तब तो वह अनात्मा ही है और फिर तो वह भी ज्ञानकर्म होकर ही व्यवहार्य होता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक ही है। उस पक्ष में भी असिद्धि आदि दोष नहीं। वादी के मत में आत्मस्वरूपभूत ज्ञान के अधीन धर्मभूत ज्ञान हो सकता है परन्तु अद्वैतिमत में आत्मस्वरूपभूत ज्ञान ही संविद् है। अतः उसमें ज्ञानान्तराधीनता कथमपि नहीं बन सकती है, इसीलिये स्वप्रकाश संविद् ही वास्तविक अहमर्थ है। वही प्रत्यगात्मा है। यदि ज्ञानवान् ही आत्मा है ज्ञान नहीं; ऐसा आग्रह हो तब तो ज्ञानज्ञातृ सम्बन्ध को ज्ञानान्तरवेद्य होने से ज्ञान एवं ज्ञाता को भी ज्ञानान्तरवेद्य मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में दोनों ही में जड़ता आयेगी, वेद्यत्व ही जड़त्व है। यदि कहा जाय कि स्वसम्बन्ध स्ववेद्य ही है तो यहाँ प्रश्न होगा कि ज्ञानज्ञातृ सम्बन्ध ज्ञानवेद्य है? या ज्ञाता से वेद्य है? अथवा सम्बन्ध से ही वेद्य है? प्रथम दो पक्ष ठीक नहीं क्योंकि सम्बन्ध दो सम्बन्धियों का धर्म होता है। स्वयं के द्वारा स्वधर्म का ग्रहण नहीं होता। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्बन्ध से ही सम्बन्ध का ग्रहण भी व्याहत है। कहा जाता है कि

"स्वधर्म भी स्वयं से गृहीत हो सकता है। नित्यत्वादि आत्म धर्मों का प्रमाता आत्मा के द्वारा ग्रहण होता है।" परन्तु यह पक्ष उचित नहीं क्योंकि सिद्धान्ततः आत्मा निर्धर्मक ही है। अतः स्वयं से स्वधर्म ग्रहण का उभयसंमत कोई दृष्टान्त नहीं। आत्मा में कल्पित नित्यत्वादि धर्मों का प्रमाता से ग्रहण होता है। स्वयं आत्मा कूटस्थ है। अतः उसमें ज्ञातृत्वादि कोई विकार बन नहीं सकते। यह भी कहा जाता है कि ज्ञानगत स्वप्रकाशत्व आदि ज्ञान से ही गृहीत होता है परन्तु यहाँ भी प्रमाता ही ग्राहक है। आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर ही ज्ञान के साथ स्वयं का सम्बन्धज्ञान हो सकता है और आत्मा का ज्ञान के साथ सम्बन्ध विदित होने पर ही आत्मा में ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। इस तरह अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

'मेरा ज्ञान से सम्बन्ध है' इस प्रकार का जो आत्मा को ज्ञान होता है, उस ज्ञान से आत्मा का सम्बन्ध भी ज्ञानान्तराधीन है। इस तरह अनवस्था भी है। श्रुति तो आत्मा का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं सहन करती है। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" श्रुति स्पष्ट कहती है आत्मा सर्वथा असङ्ग है। इस तरह असङ्ग होने से ही आत्मा का अनात्मा के साथ भी तादात्म्यप्रतीति भ्रान्ति से ही सिद्ध है।

जैसे घटवान् आत्मा का घट स्वरूप नहीं है, उसी तरह ज्ञानवान् आत्मा का ज्ञान भी स्वरूप न हो सकेगा ? कहीं भी धर्मी का धर्म ही स्वरूप नहीं हुआ करता। कहा जा सकता है कि स्वरूपभूत ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान अन्य ही है, परन्तु यह भी कथन संगत नहीं है क्योंकि अन्यता सिद्ध नहीं है। ज्ञानद्वित्व सिद्ध होने से ही ज्ञानभेद सिद्ध होता है और ज्ञानभेद सिद्ध होने पर ही उसका द्वित्व सिद्ध होता है। यह मेरा स्वरूपभूत ज्ञान है और यह धर्मभूत ज्ञान है ऐसा अनुभव भी नहीं होता।

कहा जा सकता है "अहमर्थ विशेष्य रूप से ही आत्मा का प्रकाश करता है परन्तु धर्मभूत ज्ञान को विशेषण रूप से प्रकाशता है। इसी भेद से स्वरूपभूत और धर्मभूत दो प्रकार के ज्ञान सिद्ध होते हैं।" परन्तु यह भी बात ठीक नहीं क्योंकि यहाँ विचारना होगा कि क्या धर्मभूत ज्ञान अपने को जानकर दूसरों को प्रकाशता है अथवा विना जाने ही। पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि वह धर्मभूत ज्ञान का जो स्वात्म ज्ञान है वह भी यदि आत्मा को जानकर ही अन्यों को प्रकाशेगा तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा ही। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि यदि ज्ञान अपने को ही नहीं जानता तो दूसरों को वह कैसे प्रकाशेगा ? कहा जाता है जैसे दीप अविदित होने पर भी अपना और

घटादि का प्रकाश करता है, उसी तरह धर्मभूत ज्ञान अपने से अविदित होने पर भी अन्य का प्रकाशन करता है, परन्तु इस तरह दीपादि की तरह ज्ञान में भी जड़त्व प्रसङ्ग होगा। वस्तुतस्तु दीप का प्रकाशकत्व ज्ञानजनकत्व रूप नहीं है किन्तु आवरणभूत तम का निरसन करना ही दीप का प्रकाशकत्व है। इसलिये दीप का दृष्टान्त इस प्रसङ्ग में सङ्गत नहीं है। स्वरूप ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान प्रकाशित होता है यह स्वोक्तिविरुद्ध भी है।

इसी प्रकार अहमर्थ अपने आप को किसके लिये प्रकाशता है ? अपने लिये प्रकाशता है ? यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह तो प्रकाशन व्यापार से पहले ही सिद्ध है। प्रकाश्य पदार्थ का ही व्यापार से प्रकाश होता है प्रकाशक का नहीं, आत्मा तो स्वयं प्रकाशक ही है। इसमें कर्मकर्तृभाव व्याघात भी होगा। स्वयं प्रकाशक एवं स्वयं प्रकाश्य होना कर्म कर्तृभाव विरुद्ध है। इसलिये अहमर्थ आत्मा केवल प्रकाशता ही है।

कहा जाता है "प्रकाशक ज्ञान अहमर्थ है प्रकाश्य ज्ञान धर्मभूत ज्ञान है", पर यह भी ठीक नहीं। प्रकाशकत्व ही ज्ञानत्व रूप है; जो प्रकाश्य है वह जड़ रूप ही है। वह ज्ञान नहीं हो सकता।

कहा जाता है "यदि प्रकाशकत्व ज्ञान का लक्षण है तब तो दीप में भी प्रकाशकत्व होने से उसमें भी ज्ञानत्व प्रसक्त होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व में दीप का प्रकाशकत्व खण्डित किया जा चुका है। यह भी कहा जा सकता है कि अप्रकाश्यत्व होकर प्रकाशकत्व ही ज्ञान का लक्षण है। अप्रकाश्यत्व विशेषण से दीपादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि वह प्रकाश्य होकर ही प्रकाशक होता है। शशशृङ्गादि में अतिव्याप्ति वारण के लिये प्रकाशकत्व यह विशेष्य है। यही स्वप्रकाशत्व है। यही ज्ञानत्व है। इस तरह आत्मा का धर्मभूत ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञाता आत्मा औपाधिक ही आत्मा है, वास्तविक आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। ज्ञातृत्व ज्ञेयपराधीन भी होता है। इस तरह यदि आत्मा ज्ञाता होगा तो उसे अन्याधीन होना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि ज्ञान भी ज्ञेय एवं ज्ञाता के अधीन होता है, पर यह भी ठीक नहीं। क्रियाभूत वृत्तिरूप ज्ञान अवश्य ज्ञाता के अधीन है परन्तु आत्मस्वरूप ज्ञान तो स्वतंत्र ही है। तादृक् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों के स्वरूप तीनों के अभाव का जो भासक है वह अनन्त अखण्ड ज्ञान आत्मा का स्वरूप है—

"एकमेकतराभावे यदानोपलभामहे ।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥"

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों में एक के बिना अन्य का उपलम्भ नहीं होता है पर इन सबका भासक अनन्याधीन नित्य निरतिशय ज्ञान ही आत्मा है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति भी अबाध्य अपरिच्छिन्न अनन्त ज्ञान को ही आत्मा या ब्रह्म कहती है ।

कहा जाता है "मैं अनुभव या ज्ञान हूँ, ऐसा अनुभव नहीं होता किन्तु 'मैं जानता हूँ', 'अनुभव करता हूँ, ऐसा ही अनुभव होता है । अतः ज्ञानवान् ही आत्मा है ज्ञान नहीं" पर यह ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ विचारणीय है कि क्या अनुभव का अनुभवत्व अनुभव से आपने सिद्ध किया है जिससे आत्मा की अनुभवरूपता अनुभव से सिद्ध करना चाहते हैं ? अबाधित प्रतीति का ही प्रामाण्य मान्य होता है । मैं ज्ञानवान् हूँ यह प्रतीति यदि अबाधित सिद्ध हो तभी उसके बल पर ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो सकता है । कहा जा सकता है कि "ममानुभवः (मेरा अनुभव है) इस प्रतीति का बाध नहीं होता अतः इसका प्रामाण्य ही है ।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि इस रीति से तो 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीति का भी बाध नहीं है कारण बाध का अनुभव नहीं होता । 'मम मनुष्यः' ऐसी प्रतीति नहीं होती । फिर तो मनुष्यत्व आत्मधर्म ही होगा । देहधर्म न सिद्ध होगा । फिर तो चार्वाक ही विजयी होगा ।

यदि कहा जाय कि वेदान्त शास्त्र से 'मनुष्योऽहं' इस प्रतीति का बाध होता ही है तब तो इसी तरह 'ममानुभवः' इस प्रतीति का भी वेदान्त से बाध होता ही है । आत्मा को ज्ञान या अनुभवरूप बतलानेवाला आगम नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता । 'सत्यं ज्ञान...', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सैकड़ों वचन आत्मा को ज्ञानरूप प्रतिपादन करते ही हैं । फिर आत्मा को ज्ञानरूप तो ज्ञानधर्म स्वीकार करनेवाले भी मानते ही हैं । इस दृष्टि से उधर भी तो यही प्रश्न होगा ? क्या 'अनुभवामि' के समान 'ममस्वरूपं ज्ञानं' ऐसा अनुभव होता है ? यदि नहीं तो प्रतिवादी भी अनुभव बल से आत्मा को ज्ञानरूप कैसे सिद्ध कर सकेगा ? अथवा क्या मेरा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव होने से आत्मा अनुभवरूप नहीं है ऐसा प्रतिवादी मान लेगा ? अतः 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति जैसे देह तादात्म्याध्यास के कारण होने से अप्रमाण है वैसे ही 'अहमनुभवामि' यह प्रतीति भी अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होने से अप्रमाण है । अतः

इसके बल से आत्मा की ज्ञानरूपता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा ज्ञानरूप है। यह उपनिषद् प्रमाण सिद्ध है। यद्यपि आत्मा का ज्ञातृत्व भी उपनिषदुक्त है तथापि लोकसिद्ध ज्ञातृता का उपनिषद् अनुवाद करती है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (सब के विज्ञाता आत्मा को किससे जानें) ऐसे ही अनन्त कूटस्थ निर्विकार ज्ञानरूप आत्मा है। यह व्यवहारसिद्ध नहीं है। अतः तद्बोधक श्रुति अनुवादिका नहीं कही जा सकती क्योंकि जैसे ज्ञातृत्व लोकसिद्ध एवं व्यवहार्य है वैसे आत्मा की कूटस्थ निर्विकारता ज्ञानस्वरूपता व्यावहारिक नहीं है। अनन्यलभ्य ही वेदार्थ होता है।

फिर भी कहा जाता है कि "ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व की उपपत्ति कैसे होगी?" परन्तु इसका समाधान यही है कि जैसे रज्जु में सर्पत्व की प्रतीति होती है वैसे ही अनुभवरूप आत्मा में ज्ञातृत्व भी अन्तःकरणादि के सम्बन्ध से अध्यस्त ही है। कहा जाता है कि "इस दृष्टि से तो चैतन्य आत्मा हुआ, अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य ज्ञाता हुआ। ज्ञानरूप आत्मा में ज्ञाता अध्यस्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि विशेषण में विशिष्ट अध्यस्त है पर कहीं भी विशेषण में विशिष्ट का अध्यास नहीं देखा जाता।" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि चैतन्य विशेष्य ही है विशेषण नहीं। चैतन्य में विशेषणत्व प्रतीति भी भ्रान्तिसिद्ध ही है। कहा जाता है "विशेष्य चैतन्य में भी विशिष्ट का अध्यास कैसे बन सकेगा।" पर यह भी ठीक नहीं। नीलं नभः (नील आकाश है) यहाँ विशेष्यभूत नभ में विशिष्ट नील नभ का अध्यास देखा जाता है। जो कहते हैं कि नभ में नील रूप का ही अध्यास होता है परन्तु उस दृष्टि से भी प्रकृत में चैतन्य में अन्तःकरण ही अध्यस्त है यह मान्य है। विशेष्य में विशिष्ट का अध्यास होने पर भी विशेषणांश में ही अध्यास पर्यवसित होता है।

कहा जाता है 'नीलं नभः' के समान 'अनुभवोऽहं' ऐसी प्रतीति नहीं होती फिर अहमर्थ रूप ज्ञाता का अनुभव में अध्यास कैसे माना जाय? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि 'नीलं नभः' के समान 'ज्ञाताऽहं' ऐसी प्रतीति होती है। तथाच जैसे नभ में नैल्य अध्यस्त है वैसे ही अहं पद लक्ष्यार्थ प्रत्यक् अनुभव-स्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व के अध्यस्त होने में कोई बाधा नहीं है। कहा जाता है कि "फिर तो 'नभोनीलं' के समान ही 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसा अनुभव होना चाहिये" पर यह भी ठीक नहीं। नील रूप का विरोधी आकार नभ में नहीं है

इसीलिये वहाँ 'नीलं नभः' प्रतीति होती है परन्तु अनुभव में तो ज्ञातृत्व विरोधी आकार विद्यमान है, इसी से 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसा अनुभव नहीं होता। जैसे 'अयं सर्पः' ऐसी प्रतीति होती है 'रज्जुः सर्पः' प्रतीति नहीं होती वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। यहाँ भी कहा जाता है कि "निराकार अनुभव में ज्ञातृ-विरोधी आकार की सत्ता कैसे कही जा सकती है" पर यह शंका ठीक नहीं। लोक में ज्ञान ज्ञाता का ज्ञेय एवं ज्ञाता के समान भेद सिद्ध है। यद्यपि निर्विषय ज्ञानरूप अनुभव का ज्ञाता के आकार से कोई विरोध नहीं है, इसी से उसमें ज्ञाता के आकार का विरोध न होने से ही ज्ञाता का अध्यास होता है तथापि लोक तो सविषय ज्ञान को ही अनुभव समझता है और उसका ज्ञाता आत्मा से विरोध समझकर 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसा नहीं समझता। इस तरह अनुभवगत ज्ञानाकार का ज्ञाताकार से विरोध होने से 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसी प्रतीति न होने पर भी अनुभवगत अहमाकार का उससे विरोध न होने से 'अहं ज्ञाता' ऐसी प्रतीति होती है। कहा जाता है कि "अनुभव अहं शब्द का अर्थ ही नहीं है फिर अहमाकार अनुभवगत कैसे कहा जा सकता है?" पर यह कथन ठीक नहीं, अनुभव अहं शब्द का वाच्य न होने पर भी अहं पद का लक्ष्यार्थ है ही। कहा जा सकता है "अनुभव अहं का लक्ष्यार्थ ही है, मुख्यार्थ नहीं", पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि लोक दृष्टि से अनुभव अहं शब्द का अमुख्यार्थ है परन्तु शास्त्र दृष्टि से वही मुख्यार्थ है। जिसमें शब्द का तात्पर्य होता है वही मुख्यार्थ मान्य होता है। अहं शब्द आत्मवाची है और आत्मा अनुभवरूप ही है। इस तरह अहं शब्द बोध्य आत्मा में ज्ञाता का अध्यास होने से 'अहं ज्ञाता' ऐसा अनुभव होता है। आत्मा ज्ञाता है यह शास्त्रीय व्यवहार भी होता है। वस्तुतः अनुभवरूप आत्मा में ज्ञातृत्व सोपाधिक एवं काल्पनिक ही है। जैसे नीरूप नभ में नीलरूपत्व मिथ्या है।

कुछ लोग कहते हैं कि "विषय प्रकाशक सविद् को ही आत्मा मानने पर उसमें अध्यास नहीं बन सकेगा क्योंकि अद्वैती संविद् के स्वयं प्रकाशत्व का समर्थन करते हैं, और वही संविद् अधिष्ठान रूप से मान्य है। फिर तो जैसे भ्रम-विरोधी शुक्तित्व आदि के भासमान होने पर रजतादि का भ्रम नहीं होता वैसे ही अधिष्ठान रूप संविद् के भासमान रहने पर फिर उसमें ज्ञातृत्व आदि का अध्यास कैसे बन सकेगा?" परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाता के अध्यास के पहले संविद् में विषय प्रकाशत्व ही नहीं होता। फिर भी कहा जा सकता है कि "फिर तो संविद् का स्वप्रकाशत्व भी नहीं सिद्ध होगा।" परन्तु

यह आपत्ति तो प्रतिवादिसंमत दीप के स्वप्रकाशत्व में भी होगी। घटादि विषय प्रकाशक होने से ही दीप की स्वप्रकाशता उसके मत में मान्य होती है। प्रकाशान्तर निरपेक्ष होकर प्रकाशमानत्व ही स्वप्रकाशत्व है। संविद् में ज्ञाता के अध्यास के पहले विषयाभाव होने के कारण विषय प्रकाशकत्व न होने पर भी उक्त प्रकार का स्वप्रकाशत्व संभव है। इस तरह निर्विषय स्वप्रकाश संविद् में ही ज्ञाता का अध्यास होता है।

कहा जाता है "यदि आत्मा का ज्ञातृत्व मिथ्या हो तभी ज्ञाता अध्यस्त कहा जा सकता है, परन्तु यदि ज्ञातृत्व मिथ्या होगा तब तो आत्मरूप से अभिमत अनुभूति भी मिथ्या ठहरेगी"। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धान्त में ज्ञातृत्व और अनुभव दोनों एक वस्तु नहीं है। यदि दोनों एक हों तभी ज्ञातृत्व के मिथ्यात्व में अनुभव को मिथ्या कहा जा सकता है। ज्ञाता का वास्तव स्वरूप ही अनुभव है, धर्म नहीं। कहा जा सकता है कि "अनुभव में अध्यस्त ज्ञाता का स्वरूप अनुभव कैसे हो सकता है" परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कल्पित का अधिष्ठान ही वास्तव रूप होता है।

कहा जाता है जैसे देहात्माभिमानवान् में ही ज्ञातृत्व प्रतीत होता है वैसे ही अनुभूति भी उसी को प्रतीत होती है। इसलिये ज्ञातृत्व के मिथ्या होने पर अनुभव के भी मिथ्यात्व का प्रसंग होगा ही। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि देहादि अनात्मामें आत्माभिमान करनेवाला हो 'मनुष्योऽहं, द्रष्टाऽहं, ज्ञाताऽहं' ऐसा अनुभव करता है। तादृश अभिमानशून्य तो 'अनुभव हूँ' ऐसा ही समझता है। देहादि आत्माभिमानवान् को मैं अनुभवस्वरूप हूँ ऐसी प्रतीति नहीं होती।

कहा जाता है कि "मुझे देहादि अभिमान नहीं है फिर भी मैं ज्ञाता हूँ, मुझे ऐसी प्रतीति होती है" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उक्त प्रतीति अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होती है। कहा जाता है "अनुभव के तुल्य ज्ञातृत्व भी अबाधित है अतः वह भी मिथ्या नहीं है"; पर यह भी कथन ठीक नहीं। यहाँ प्रश्न होगा कि क्या जानामि इस प्रतीति से ज्ञातृत्वसिद्धि अभीष्ट है, अथवा शास्त्र से? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि सुषुप्ति आदि में जानामि ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः आत्मा का ज्ञातृत्व न सिद्ध हो सकेगा। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि शास्त्र निर्धर्मक परमानन्द रूप ही आत्मा का प्रतिपादन करता है। कहते हैं मुक्ति में भी आत्मा ज्ञाता ही रहता

है; परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि मुक्ति में द्वितीय न होने से ज्ञेयाभावात् ज्ञातृत्व अनुपपन्न ही होगा।

कुछ लोग कहते हैं "मुक्ति में द्वितीय रहता ही है" परन्तु उनके मतानुसार 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नान्यत्पश्यति', 'केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियों का स्वारस्यभङ्ग अनिवार्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि "अनुभव भी बाधित ही है।" पर यहाँ सोचना पड़ेगा कि अनुभव का बाध किससे होगा? कहा जा सकता है कि सुप्ति आदि में अनुभव नहीं रहता इसलिये काल से अनुभव बाध्य होगा, पर यह ठीक नहीं कारण कि सुप्ति में अज्ञान सुखादि का अनुभव रहता ही है। इसके अतिरिक्त जो वस्तु अनुभवाधीन स्थितिवाली होती है वह सभी अनुभवाधीन स्थितिवाली होने से परतन्त्र ही है, फिर वह अनुभव का बाधक कैसे होगी? देश, काल, वस्तु सभी अनुभवाधीन ही होते हैं अतः उनसे अनुभव का बाध नहीं हो सकता। अनुभव ही आत्मा है अतः उसका बाध नहीं हो सकता है। आत्मा प्रतिवादी को भी नित्य रूप से मान्य है।

फिर भी कहा जाता है कि "यदि ज्ञातृत्व आत्मधर्म नहीं है तब तो वह शशशृङ्गप्राय ही होगा, क्योंकि आत्मभिन्न सब जड़ ही है। जड़ में ज्ञातृत्व होगा ही नहीं अतः कहीं भी ज्ञातृत्व नहीं उपपन्न होगा इसलिये 'अहं जानामि' इस प्रतीति से सिद्ध ज्ञातृत्व आत्मधर्म ही है।

"अहङ्कार का धर्म वह नहीं हो सकता क्योंकि अहङ्कार जड़ है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि अन्तःकरण वृत्तिविशेष अहङ्कार स्वतः जड़ ही है तथापि चित्प्रतिबिम्बग्राही होने से अजड़ ही होता है। अतएव "देह के तुल्य दृश्य होने से जैसे अहङ्कार में दृशिरूपता नहीं बन सकती वैसे द्रष्टृत्व भी उसमें उत्पन्न न होगा" यह कथन भी निःसार सिद्ध हो जाता है। केवल अहङ्कार के दृश्य होने पर भी साभास अहङ्कार में द्रष्टृत्व बन ही जाता है।

लोक में मनुष्यादि चेतन, पाषाणादि अचेतन कहे जाते हैं। यह चेतनत्व जीवधर्म है देहादि धर्म नहीं, फिर कैसे मनुष्यादि को चेतन कहा जाता है? मनुष्यादि तो देह ही है क्योंकि मनुष्यात्वादि देहधर्म ही है। अतः यहाँ कहना पड़ेगा कि जीवधर्म चेतनत्व का देह में अध्यास होने से ही मनुष्यादि चेतन हैं ऐसा व्यवहार होता है। उस जीवधर्म चेतनत्व का घटादि में अध्यास नहीं होता इसी लिये अचेतन कहे जाते हैं। इसी तरह देहधर्म मनुष्यत्व का जीव में

अध्यास होने से 'अहं मनुष्यः' ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार इतरेतराध्यास से ही लोकव्यवहार चलता है। घटादि अचेतनों की दृष्टि से देह भी चेतन कहा जाता है। देह, इन्द्रिय का विश्लेषण करते समय इन्द्रिय ही चेतन है और देह अचेतन, क्योंकि इन्द्रियों के न होने से ही मृत देह घटादि तुल्य अचेतन कहा जाता है। परन्तु अन्तःकरण से विवेचन करते समय इन्द्रियों में भी अचे-तनत्व ही मान्य है क्योंकि मन के असहयोग होने पर इन्द्रियों की निर्व्यापारता स्पष्ट देखी जाती है। उस मन की भी दो वृत्ति है एक इदं वृत्ति दूसरी अहं वृत्ति। इदं वृत्तिवाला अन्तःकरण मन कहलाता है अहं वृत्तिवाला अन्तःकरण अहङ्कार कहलाता है। अहङ्कार से विवेचित मन भी अचेतन ही होता है। अतएव 'मम घटः' के समान ही 'मम मनः' ऐसा व्यवहार देखा जाता है, घटादि के तुल्य मन की चेतन परतंत्रता देखी जाती है, अचेतन वस्तु चेतन के परतंत्र होती ही है। जैसे वासी (वसूला) आदि वर्धकि के परतंत्र होते हैं तद्वत् वह अहङ्कार चेतन जीव के सन्निहित होने से उसका मुख्य उपाधि है। शुद्ध चेतन से उसका विवेचन करने पर वह भी अचेतन ही सिद्ध होता है परन्तु अविवेक से अहङ्कार ही चेतन प्रतीत होता है। जैसे देह विवेक विना चेतन ही प्रतीत होता है तद्वत्। अहङ्कार और आत्मा का विवेक बहुत ही दुष्कर है। इसी लिये विद्वानों को भी इसमें व्यामोह होता है। यही चिज्जडग्रन्थि है। यह निःसन्धि बन्धन ग्रन्थि है, इस सम्बन्ध में कहा गया है "श्रुति पुराण बहु कहत उपाई। छूट न अधिक अधिक उरझाई॥" देह एवं आत्मा का विवेक तो अविद्वान् के लिये ही दुष्कर है परन्तु अहङ्कारात्मक अन्योऽन्याध्यास रूप ग्रन्थि तो विद्वानों के लिये भी दुर्भेद्य है। इस तरह आत्मचैतन्य के अध्यास से अहङ्कार में चेतनता प्रतीत होती है। अहङ्कार तादात्म्याध्यास के कारण आत्मा में अस्मत्प्रत्यय गोचरता होती है। परस्पराध्यास के कारण ही 'अहं जानामि' ऐसा व्यवहार होता है। अहङ्कार विशिष्ट ही आत्मा का मन के साथ अन्योऽन्याध्यास होता है तब 'अहं सुखी' ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह अहङ्कार विशिष्ट आत्मा का ही देह के साथ तादात्म्याध्यास से 'अहं मनुष्यः' ऐसा व्यवहार होता है। आत्मा में अहङ्कार का अध्यास ही प्राथमिक अध्यास है। मन आदि तो अहङ्कार विशिष्ट आत्मा में ही अध्यस्त होते हैं। इसी लिये मन आदि से आत्मा का विवेक कुछ सुकर किन्तु आत्मा और अहङ्कार का विवेक दुष्कर है। जैसे अत्यन्त अविवेकी देहनाश में ही आत्मनाश मानने लगता है, उसी तरह अहङ्कार में आत्मा-भिमानवान् विद्वान् भी अहङ्कार के नाश से आत्मनाश समझने लगता है।

"अहमर्थ आत्मा ही है, अहङ्कार अहमर्थ नहीं है" यह बात वदतो व्याघात जैसे ही है। जैसे घटार्थ घट नहीं है यह कहना व्याहत है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। यदि अहमर्थ ही आत्मा है ऐसा आग्रह किया जाय तो सुषुप्ति में अहमर्थ रूप आत्मा का नाश मानना पड़ेगा क्योंकि सुषुप्ति में अहमर्थ का स्फुरण नहीं होता। जागर, स्वप्न के तुल्य सुषुप्ति में 'अहं जानामि' ऐसा व्यवहार नहीं होता है अतः अहमर्थ अहङ्कार में चेतन आत्मा के अत्यन्त सन्निहित होने से चेतन तादात्म्याध्यास से चेतनत्व लाभ होता है। इसी दृष्टि से स्वतः जड़ होने पर भी उसमें चेतनता भासित होती है।

फिर भी यह प्रश्न किया जाता है, "चेतन जीव में ज्ञातृत्व है या नहीं? पहला पक्ष मानने से सिद्धांत हानि होगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि जब जीव में ही ज्ञातृत्व न होगा तो फिर जीवाध्यस्त अहङ्कार में ज्ञातृत्व कहाँ से आयेगा?" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि सूर्य के तुल्य चेतन में प्रकाशकत्व होता है। सूर्य प्रतिबिम्ब ग्रहण से जैसे दर्पण में भी प्रकाशकत्व होता है उसी तरह चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण से अहङ्कार में भी ज्ञातृत्व उपपन्न होता है। आत्मा के अनुप्रवेश से चैतन्यलाभ कर अहङ्कार सब वस्तुओं को प्रकाशता हुआ अहंग्रह पूर्वक ही प्रकाशता है। आत्मा तो केवल अवभास रूप ही होता है। प्रकाशस्वरूप सूर्य में जैसे प्रकाशकत्व व्यवहार होता है, उसी तरह अखण्डबोध स्वरूप आत्मा में भी अवभासकत्व व्यवहार होता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से सर्वसामान्य का अवभासक आत्मा होता है। विशेषाकार से तत्तद् वस्तु भासक अहं पदार्थ अहङ्कार होता है। इस तरह जीव का विद्यमान प्रकाशकत्व ही अध्यस्त अहङ्कार में आता है, वही अहंग्रहपूर्वक अहङ्कार का ज्ञातृत्व कहलाता है। जैसे आत्मा सर्वभासक है वैसे ही साभास अहङ्कार भी सर्वभासक होता है, परन्तु साभास अहङ्कार सब वस्तुओं को प्रकाशता हुआ 'अहमिदं जानामि' इस रूप से जानता है। इसी लिये अहङ्कार में ज्ञातृत्व व्यवहार होता है परन्तु आत्मा में केवल ज्ञानरूपता ही रहती है।

जो कहते हैं "आत्मा ही 'अहं जानामि' ऐसा समझता है, उनके मत में अन्वयव्यतिरेक विरोध अवश्य होगा। जागर स्वप्नमें अहं रहता है इसी लिये 'अहं जानामि' व्यवहार होता है। परन्तु सुषुप्ति में अहं नहीं रहता इसलिये वैसा व्यवहार भी नहीं होता। यदि यह व्यवहार आत्मा का होता तो तीनों ही अवस्थाओं में वैसा होना चाहिये क्योंकि आत्मा तो सर्वावस्थान्वयी है। अतः

साभास अहङ्कार या अहङ्कार विशिष्ट चैतन्य ही ज्ञाता है आत्मा नहीं, वह तो दृशिस्वरूप ही है।

कहा जा सकता है कि "यदि आत्मा विषयावभासक है तब तो वही ज्ञाता भी है" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि विषयावभासकत्व तो ज्ञान में भी प्रतिवादी को संमत ही है अतः विषयावभासकत्व एवं ज्ञातृत्व दोनों एक नहीं। यदि विषयावभासकत्व ही ज्ञातृत्व है तो भी विचारणीय है कि क्या यह ज्ञातृत्व वस्तुभूत है या व्यावहारिक? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि जब विषय ही वास्तविक नहीं तो फिर तन्निरूपित ज्ञातृत्व कैसे वस्तुभूत होगा? द्वितीय पक्ष तो मान्य ही है। प्रत्यगात्मा अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ज्ञाता होता है यह ठीक ही है।

यह भी कहा जाता है कि "यदि विषयावभासकत्व ही ज्ञानत्व है तब फिर वस्तुतः आत्मा ज्ञानस्वरूप कैसे होगा?" परन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि विषयप्रकाशकत्व रूप ज्ञानत्व आत्मा में व्यावहारिक ही है। जैसे प्रतिवादी के मत में ज्ञातृत्व आत्मा का अनौपाधिक रूप है, देहादि तादात्म्याध्यास से 'अहं मनुष्यः' प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वैति मत में अहङ्कार तादात्म्याध्यास से आत्मा में ज्ञातृत्व होता है। विषयप्रकाशकत्वमात्र की दृष्टि से ज्ञानत्व होता है, अतएव 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' यह श्रुति आत्मा को वाङ्मनसातीत कहती है। ज्ञानादि पदों की भी लक्षणा के द्वारा ही आत्मबोधकता है। तदिदं इस रूप से उसका निर्देश नहीं किया जा सकता इसी लिये नेति नेति शब्द से उसका श्रुति प्रतिपादन करती है। निषेध के अवधि रूप में श्रुति उसे बतलाती है—"श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्य तन्निरसनेन भवन्निधनाः।"

कहा जाता है कि "विधि मुख से भी वेदान्तों की प्रवृत्ति मान्य है ही," यह ठीक है परन्तु जब तक व्यवहार है तब तक विषयप्रकाशकत्व रूप ज्ञानत्व ब्रह्म में होता है। इसी दृष्टि से ब्रह्म में ज्ञान, सत्य, आनन्द आदि पदों का प्रयोग होता है। वस्तुतः ब्रह्म में वह ज्ञानत्व भी नहीं होता। इसी लिये श्रुति निषेधमुख से ब्रह्म प्रतिपादन करती है। अतः ब्रह्म निर्विशेष है।

कुछ लोग कहते हैं यदि निर्विशेष ब्रह्म में कोई विशेष नहीं है तो उसे शून्य ही क्यों न समझा जाय? परन्तु विशेषाभाव के अधिष्ठान को शून्य नहीं कहा जा सकता। शून्य किसी का अधिष्ठान नहीं होता। निर्विशेष ब्रह्म से

अभिन्न होने के कारण आत्मा भी निर्विशेष है, फिर भी ब्रह्म यावद् व्यवहार ज्ञानस्वरूप है। उसी में अहङ्काराध्यास से ज्ञातृत्व व्यवहार होता है।

कहा जा सकता है "इस तरह तो ज्ञातृत्व के समान ही ज्ञानत्व भी मिथ्या ही है, फिर ज्ञातृत्व ही मिथ्या है इस कथन का क्या तात्पर्य ?" इसका समाधान यह है कि अध्यास प्रयुक्त होने से ज्ञातृत्व मिथ्या है, परन्तु ज्ञानत्व वैसा नहीं है इसलिये वह मिथ्या नहीं कहा जाता। अपारमार्थिकत्व रूप मिथ्यात्व उभयत्र समान ही है। फिर भी कहा जाता है कि "फिर तो ज्ञान रूप आत्मा भी मिथ्या ही हुआ" पर यह ठीक नहीं क्योंकि विषयप्रकाशकत्व रूप ज्ञानत्व के मिथ्या होनेपर भी ज्ञानस्वरूप का मिथ्यात्व नहीं। कहा जाता है कि "फिर तो इसी तरह ज्ञाता भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह चैतन्य रूप है।" परन्तु यह ठीक नहीं कारण, चैतन्यरूप से अमिथ्या होनेपर भी अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य-रूप से ज्ञाता मिथ्या ही है। यदि विशेषांश में ही पक्षपात हो तो कहा जा सकता है कि ज्ञातृत्व ही मिथ्या है ज्ञाता नहीं। घटादि में भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यरूप विशेष्य पक्षपात से मिथ्यात्व नहीं है किन्तु घटत्वादि का ही मिथ्यात्व है।

आत्मा में कल्पित घटादि विषय एवं ज्ञाता अहङ्कार में जो अधिष्ठान एवं स्वरूपभूत विज्ञान है वह सत्ता एवं सुख से अभिन्न है। वही आत्मा है और वह निर्विशेष है। उसमें विषयप्रकाशकत्व तो ज्ञातृत्वादि के तुल्य कल्पित ही है। विषयप्रकाशकत्व रूप शब्दप्रवृत्ति निमित्त वस्तुतः आत्मा में नहीं है अत-एव ज्ञान शब्द भी आत्मा में नहीं प्रवृत्त होता इसी लिये उसे शब्दाविषय कहा गया है। तात्पर्यवृत्ति से ही ज्ञान, आत्मादि शब्दों से आत्मा का प्रतिपादन किया जाता है। तात्पर्यवृत्ति एवं निषेधमुख से उपनिषत्प्रतिपाद्य होने से ही ब्रह्मात्मा को औपनिषद् कहा जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि "आत्मा में ज्ञातृत्व अहङ्काराध्यास के कारण नहीं किन्तु ज्ञानत्व के तुल्य स्वाभाविक ही है क्योंकि आत्मा अहङ्कार का भी तो ज्ञाता है ही। अहङ्कारज्ञातृत्व को अहङ्काराध्यास-प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता", पर यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि साभास अहंकार ही घटादि के तुल्य अपने को भी जान ही सकता है। इसमें कर्मकर्तृ-विरोध नहीं है, छेत्ता द्वारा स्वकरादि छेदन देखा ही जाता है। अहंकारकर्तृक जो ज्ञान होता है वही क्रिया है। कहा जा सकता है कि फिर तो इसी तरह आत्मा भी आत्मा को जान सकता है पर यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा

निष्क्रिय है। अतः वह ज्ञानक्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। निर्विकार आत्मा ज्ञान का कर्ता भी नहीं हो सकता क्योंकि कर्तृत्व विकार ही है। इसलिये ज्ञानक्रिया-कर्तृत्व आत्मा में स्वाभाविक नहीं किन्तु औपाधिक ही है।

कहा जाता है "जैसे ज्ञातृत्व औपाधिक है वैसे ही ज्ञानत्व भी औपाधिक ही है क्योंकि अन्तःकरण से उपहित आत्मा ही विषय प्रकाशक होता है, मुक्त प्राप्य शुद्ध आत्मा में विषयप्रकाशकत्व नहीं होता" पर यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि यद्यपि अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा में ज्ञातृत्व एवं अन्तःकरणोपहित में ज्ञानत्व होता है, तथापि आत्मा के विषयप्रकाशन रूप कार्य में अन्तःकरण अन्वयी नहीं होता, इसी लिये अन्तःकरण विशेषण और उपाधिरूप से प्रमाता और साक्षी का भेदक होता है। जो कार्यान्वयी होकर व्यावर्तक होता है वह विशेषण होता है और जो कार्यानन्वयी होकर व्यावर्तक है वह उपाधि होता है। इस दृष्टि से ज्ञातृत्व औपाधिक है और इसकी अपेक्षा ज्ञानत्व स्वाभाविक है। फिर कहा जाता है कि "यदि साभास अहंकार ही द्रष्टा है, आत्मा तो ज्ञानरूप ही है तब तो 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस श्रुति से आत्मा से भिन्न द्रष्टा का निषेध होने से आत्मा ही द्रष्टा सिद्ध होता है। इस तरह श्रुतिविरोध स्पष्ट है" पर यह ठीक नहीं। क्योंकि अहंकारादि स्वेतर सर्ववस्तु भासकत्व रूप द्रष्टृत्व तो आत्मा में ही रहता है परन्तु ज्ञानक्रिया कर्तृत्व रूप ज्ञातृत्व या द्रष्टृत्व अहंकार में ही होता है, अतः श्रुतिविरोध नहीं होता। फिर भी कहा जाता है कि 'मम मनः' के समान ही 'मम अहंकारः' ऐसा भी व्यवहार होता है। दृश्य अहंकार से द्रष्टा आत्मा भिन्न ही है। द्रष्टा दृश्य को देखकर ही 'ममायम्' ऐसा समझता है" पर यह ठीक नहीं। 'ममाहङ्कारः' मेरा अहङ्कार है ऐसा जो समझता है वह साभास अहङ्कार ही है आत्मा नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में आत्मा को 'ममाहङ्कारः' ऐसी बुद्धि नहीं होती। जैसे देहात्मवादी के मत में 'मम देहः' यह व्यवहार बनता है वैसे ही अहङ्कारात्म-वादी के यहाँ भी 'ममाहङ्कारः' यह व्यवहार बन जाता है, परन्तु ऐसा ही व्यवहार जब ब्रह्मविद् का होता है तब वहाँ अस्मच्छब्द लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा का उपाधिभूत अहङ्कार है यह उक्त व्यवहार का अर्थ होता है। यहाँ अवभास्य अहंकार का अवभासक द्रष्टा आत्मा ही है।

कहा जाता है कि "दृशि ही आत्मा है यह पहले कहा गया है, अब यहाँ द्रष्टा को आत्मा कैसे कहा जा रहा है?" पर यह ठीक नहीं क्योंकि विषयावभासकत्व रूप द्रष्टृत्व एवं दृशित्व का अभेद ही सिद्धान्त में मान्य है। विषयावभाषकत्व ही दृशित्व भी है अतएव द्रष्टा आत्मा का दर्शन ही स्वरूप है।

यदि कहा जाय कि "तब तो फिर विषयावभासकत्वरूप द्रष्टृत्व ही साभास अहंकार का भी है फिर वही आत्मा क्यों न माना जाय ? अतः आत्मा ज्ञाता न हो यह कैसे कहा जा सकता है ?" परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अहंग्रहपूर्वक विषयावभासकत्व ज्ञातृत्व है। अहंग्रहरहित भासकत्वरूप द्रष्टृत्व आत्मा में मान्य है, यह कहा जा चुका। इसलिये ज्ञाता अहमर्थ साभास अहङ्कार ही है। ज्ञानस्वरूप प्रत्यागात्मा अहं शब्द का लक्ष्यार्थ ही है। 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में ज्ञाता अहं पद वाच्य है, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रतीति में अहं पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा है।

कहा जाता है "जैसे दृशिकर्म अहङ्कार में दृशित्व नहीं बनता वैसे दृशिकर्म अहङ्कार में दृष्टृत्व भी नहीं बन सकता" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे प्रतिवादी के मत में 'मामहं जानामि' इस प्रतीति के अनुसार दृशिकर्म आत्मा में द्रष्टृत्व भी मान्य है वैसे ही इधर भी साभास अहङ्कार में द्रष्टृत्व एवं दृशि कर्मत्व होने में कोई आपत्ति नहीं। कहा जाता है "फिर भी अभिन्न में कर्मकर्तृविरोध होगा ही" परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'मामहं छिनद्मि' (मैं अपना छेदन करता हूँ) इस प्रतीति के तुल्य ही 'मामहं जानामि' यह प्रतीति भी होती है। अतएव कर्तृत्व कर्मत्व का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। निरंश में उक्त विरोध होने पर भी सांश एवं विकारी में उक्त व्यवहार होता ही है।

फिर भी यहाँ प्रश्न होता है कि "क्या आत्मा में अहंबुद्धि होती है या अनात्मा में ? यदि पहला पक्ष है तो फिर अहङ्कार को अहमर्थ क्यों कहा जाता है ? यदि दूसरा पक्ष मान्य है तब तो फिर घटादि अनात्मा में अहंबुद्धि क्यों नहीं होती ?" परन्तु यह भी कथन ठीक नहीं; कारण अहंबुद्धि न केवल आत्मा में होती है और न केवल अनात्मा में किन्तु आत्माध्यास विशिष्ट अहङ्कार में ही अहंबुद्धि होती है। 'अहं जानामि' इस प्रतीति में वही अहमर्थ है। 'अहं पश्यामि' इसमें चक्षुरादि इन्द्रियाध्यास विशिष्ट अहङ्कार है। 'अहं स्थूलः' यहाँ देहाध्यास विशिष्ट अङ्कार होता है।

कुछ लोग कहते हैं "अहं जानामि इस प्रतीति से अहङ्कार में आत्माध्यास वैशिष्ट्य नहीं होता।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जड़ अहङ्कार में चैतन्य का अध्यास हुए विना ज्ञातृत्व नहीं बन सकता। फिर भी कहा जाता है कि "आत्माभास विशिष्ट अहङ्कार में ज्ञातृत्व हो ही जायगा।" परन्तु आभास और अध्यास एक ही वस्तु है, यदि भेद है तो भी आत्माभास के साथ भी तो अहङ्कार का अध्यास मानना पड़ेगा। वह आत्माभास आत्मा से वैसे ही पृथक् नहीं है जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब। एक ही मुख में उपाधिवशात् बिम्बप्रतिबिम्ब रूप से द्वेधा

प्रतीति होती है। इसी तरह अन्तःकरणरूप उपाधि के कारण चित् में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, परमार्थ परब्रह्मात्म साक्षात्कार के पहले अहंबुद्धि का विषय साभास अहङ्कार ही होता है। तत्वविद् के अहंबुद्धि का विषय विविक्त प्रत्यगात्मा ही है। कहा जा सकता है 'अहङ्कार रहित केवल आत्मा में विद्वान् को भी अहंबुद्धि क्यों होती है?' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण विद्वान् को भी अहंकारोपहित ही प्रत्यागात्मा में अहंबुद्धि होती है। फिर भी कहा जाता है कि 'तब तो मायोपहित परमेश्वर में विद्वान् को अहंबुद्धि नहीं होती फिर ब्रह्म एवं आत्मा की अभेद बुद्धि कैसे होगी?' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो चैतन्य वस्तु मायोपहित है वही अन्तःकरणोपहित होकर प्रत्यगात्मा कहा जाता है। इसी लिये कहा जा सकता है कि अन्तःकरणोपहित आत्मा तो परिच्छिन्न होता है फिर अपरिच्छिन्न ब्रह्म के साथ कैसे अभेद होगा? पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण परिच्छिन्न होने से आत्मा अन्तःकरणोपहित नहीं कहा गया है किन्तु अन्तःकरण में उपलभ्यमान होने से ही अन्तःकरणोपहित कहा गया है। कहा जाता है कि तब तो आत्मा दृश्य हो गया। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि लयविक्षेपशून्य होने से अन्तःकरण पर आत्मा का स्फुरण होता है। यही अन्तःकरण में उपलभ्यमान होने का अर्थ है। वह स्फुरण गोचर न होने से दृश्य नहीं होता। उपलब्धा भी आत्मा ही है, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उपलब्धा प्रमाता ही है, प्रत्यगात्मा साक्षिस्वरूप है।

कहा जाता है कि "साक्षाद्रष्टरिसंज्ञायां इस पाणिनि सूत्र के अनुसार साक्षी भी तो द्रष्टा ही होता है दृशि नहीं। इसी लिये साक्षी के द्वारा प्रमाता भी दृश्य होता है"; पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि साक्षिगत दृष्टृत्व विषयावभासकत्व रूप ही है ज्ञातृत्व नहीं यह कहा जा चुका है। जहाँ ज्ञान या दृशि क्रिया का कर्तृत्व होता है वहीं ज्ञातृत्वरूप द्रष्टृत्व होता है। जहाँ नित्य स्वरूपभूत बोध से विषयभान होता है वहीं साक्षित्वरूप द्रष्टृत्व होता है।

कहा जाता है "निर्विकार आत्मा में ज्ञातृत्वरूप विकार नहीं हो सकता इसी लिये आत्मा ज्ञाता नहीं है यह कहा गया है। परन्तु वस्तुतः आत्मा में विक्रियात्मक ज्ञातृत्व नहीं मान्य होता है किन्तु ज्ञान गुणाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व आत्मा में मान्य हो तो क्या हर्ज है? आत्मा नित्य है अतः उसका स्वाभाविक धर्म ज्ञान भी नित्य ही है"; पर यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञा धात्वर्थज्ञान क्रिया ही है गुण नहीं। ज्ञानक्रियाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व विकार ही है और वह आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान से अतिरिक्त है।

———

आत्मा एवं कर्तृत्व

कुछ लोग कहते हैं कि "कर्तृत्व विक्रिया है एतावता अहमर्थ को आत्मा नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमात्मा को कर्ता कहा गया है। परमात्मा अनात्मा नहीं हो सकता, 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इत्यादि सूत्र से बादरायण ने भी आत्मा को कर्ता ही कहा है। यदि कर्ता होने के कारण आत्मा अनात्मा हो जायगा तब तो अकर्ता होने के कारण घटादि को भी आत्मा मानना चाहिये।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जो अनात्मा है वह कर्ता है ऐसी व्याप्ति मान्य नहीं किन्तु जो कर्ता है वह अनात्मा है यही व्याप्ति है। अकर्ता घटादि के अनात्मत्व में कर्तृत्व प्रयोजक नहीं किन्तु दृश्यतादि ही अनात्मत्व का प्रयोजक है। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है। परमात्मा और आत्मा का अभेद ही है। कूटस्थ परमात्मा में स्वतः जगत्कर्तृत्व आदि भी नहीं बनता किन्तु माया से वैसे ही बनता है जैसे मरुभूमि में पङ्किलत्व। अतः निष्क्रिय ही आत्मा है। कर्तृत्व तो माया सम्बन्ध से ही कहा गया है। माया अनात्मा ही है। अन्तःकरण संसर्ग से ही आत्मा में कर्तृत्व का व्यवहार होता है। उसी का श्रुति सूत्रादि अनुवाद करते हैं। अनुवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता। कर्ता तो अवश्य ही क्रिया से विकृत होता है। अविकृत में कोई क्रिया हो नहीं सकती। जो विक्रियावान् है वह अवश्य अनित्य होता है यदि अविक्रिय है तो उसको निष्क्रिय होना ही चाहिये। यदि निष्क्रिय होगा तो वह ज्ञाता नहीं बन सकेगा क्योंकि ज्ञान तो क्रिया ही है। कहा जाता है कि "यदि आत्मा ज्ञाता नहीं है तब तो (ज्ञोऽत एव) इस ब्रह्म सूत्र का विरोध होगा, क्योंकि उसमें आत्मा को ज्ञाता ही माना गया है"। पर यह ठीक नहीं; वहाँ 'ज्ञः' का अर्थ नित्य ज्ञानस्वरूप ही है ज्ञाता नहीं।

कहा जा सकता है कि "जानातीति ज्ञः इस व्युत्पत्ति से नित्य चैतन्यवान् ज्ञाता आत्मा ही ज्ञः कहा गया है।" पर यह ठीक नहीं; यहाँ जानाति का प्रकाशयति ही अर्थ है। आत्मा स्वरूपभूत ज्ञान से सामान्य रूप से सर्वप्रकाशक है। किन्तु वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य के द्वारा तद्विशिष्ट विषयों का भी प्रकाशन करता है। अतएव 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।' इस श्रुति

में वह सर्वज्ञः एवं सर्वविद् कहा जाता है; अन्यथा सर्वज्ञ एवं सर्ववित् शब्द का यदि एक ही अर्थ है तो पुनरुक्ति प्रसंग अवश्य होगा।

प्रश्न किया जाता है "क्या यह आत्मा सब कुछ अपने लिये प्रकाशित करता है या अन्य के लिये ? प्रथम पक्ष में ज्ञातृत्व सिद्ध हो गया। दूसरे पक्ष में दीपादि का भी आत्मत्व सिद्ध होगा अथवा दीपादि के तुल्य ही आत्मा का भी अनात्मत्व सिद्ध होगा।" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान का विषय-प्रकाशकत्व उभयसंमत है ही। वह ज्ञान क्या स्वविषय अपने लिये प्रकाशता है या अन्य के लिये ? यदि प्रथम पक्ष है तो ज्ञान में भी ज्ञातृत्वआ जायगा। द्वितीय पक्ष में दीपादिवत् ज्ञान में जड़त्वापत्ति होगी। इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस रीति से ज्ञानगुणक ज्ञानस्वरूप आत्मा जड़ ही ठहरेगा फिर जड़ आत्मा में ज्ञातृत्व भी कैसे बनेगा ? क्योंकि ज्ञातृत्व चेतन धर्म है। यदि ज्ञान का भी ज्ञातृत्व इष्ट है तो फिर प्रश्न होगा आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का ज्ञातृत्व इष्ट है या धर्मभूत ज्ञान का ? प्रथम पक्ष मान्य है तब तो आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान ही सबको जान लेगा। फिर धर्मभूत ज्ञान मानने का क्या प्रयोजन रहेगा। स्वीकृत होने पर भी अज्ञाता होने के कारण वह दीपादि-वत् जड़ ही ठहरेगा। तब तो ज्ञानगुणकत्व जड़गुणकत्व ही ठहरेगा। यदि धर्मभूत ज्ञान में ज्ञातृत्व है तब तो स्वरूपभूत ज्ञान में अज्ञातृत्व ही ठहरेगा। वह भी प्रतिवादी को इष्ट नहीं है क्योंकि उसे ज्ञानस्वरूप ज्ञाता ही अभीष्ट है। यदि कहा जाय कि दोनों ही ज्ञाता हैं तब तो फिर दोनों ही स्वतंत्र ज्ञाता हुए, फिर दोनों ही धर्मी ठहरेंगे उनमें से कोई भी धर्म नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जब आत्मा धर्मभूत ज्ञान से अर्थज्ञानवान् होगा तो स्वरूपज्ञान से अनुसंधान (स्मरण) न होगा क्योंकि अन्य ज्ञान से अन्य को स्मरण कैसे होगा ? इसी तरह स्वरूपज्ञान से अर्थबोध होने पर धर्मभूत ज्ञान से स्मरण न हो सकेगा, साथ ही प्रतिदेह में दो दो ज्ञाता मानने पड़ेंगे। फिर एक देह में एक ही आत्मा होता है यह कहना भी असंभव हो जायगा। जब ज्ञाता ही आत्मा है तो सुतरां एक के देह में दो आत्मा भी ठहरेंगे। अतः विषयप्रकाशक आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान ही ज्ञान मानना चाहिये। वृत्तिज्ञान भी यद्यपि विषयप्रकाशक है तथापि वह दीपादि के तुल्य जड़ ही है। दीप के तुल्य ही वृत्ति अन्य के लिये विषय प्रकाशित करती है। धर्मभूत ज्ञान निष्प्रमाण ही है। दीप और वृत्ति दोनों ही स्वरूपभूत ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। वृत्तिमान् अन्तःकरण के साथ आत्मा का

अन्योऽन्याध्यास होने से ही ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व का व्यवहार होता है। वृत्तिसंस्कार से स्मरणादि भी उसीमें उपपन्न होता है।

कहा जाता है कि "यदि अन्य के लिये विषयप्रकाशन से वृत्तिज्ञान को जड़ कहा जाता है तब तो अपने लिये विषय प्रकाशने के कारण आत्मस्वरूप ज्ञान में ज्ञानत्व हुआ यह भी मानना पड़ेगा। इसे इष्टापत्ति भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस तरह तो आत्मा में ज्ञातृत्व ही आ जायगा जो कि सिद्धांती को इष्ट नहीं है।" परन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि अपने लिये विषय प्रकाशता है, इसलिये आत्मस्वरूप ज्ञान को ज्ञान नहीं माना जाता। कारण, प्रकाशन के पहले ही ज्ञानस्वरूप आत्मा में विषयप्रकाश रहता है अन्यथा तो विकारित्व की प्राप्ति ही होगी। भाति (भासमान् है) इस प्रकार विषय में व्यवहार-विषयत्व योग्यता जनन करना ही ज्ञान का ज्ञानत्व है। कहा जा सकता है कि यह तो वृत्तिज्ञान में भी होता ही है, परन्तु यह ठीक नहीं; तो वृत्तिज्ञान से भी होता ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, वहाँ भी वृत्तिगत चैतन्य ही विषय में तादृक् योग्यता जनन करता है वृत्ति नहीं।

यह भी कहा जा सकता है कि आत्मस्वरूप ज्ञान प्रमाता के लिये विषय का प्रकाशन करता है। फिर भी दीपादि के तुल्य अन्यार्थ प्रकाशकत्व होने से जड़त्व-प्रसक्ति नहीं होगी क्योंकि प्रमाता उसमें ही कल्पित होने से उससे भिन्न नहीं है। अधिष्ठानसत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता नहीं होती है। दीपादि तो प्रमाता से भिन्न ही हैं, अतः दीपादि अपने से अन्य प्रमाता के लिये ही विषय प्रकाशने के कारण जड़ है, पर यहाँ वैसी बात नहीं। अन्तःकरणादि योग से यहाँ ज्ञान ही प्रमाता कहा जाता है। अतः प्रमातृभूत अपने ही लिये विषय का प्रकाशन करता है। अतः स्वरूपज्ञान जड़ नहीं। इस तरह प्रमाता अजड़ होता हुआ भी ज्ञाता होने के कारण विकारी होने से अकूटस्थ एवं अनात्मा ही है। प्रत्यगात्मा भी अजड़ है तो भी वह ज्ञान होने से, अविकारी होने से कूटस्थ साक्षी है। वह ज्ञानस्वरूप ही है ज्ञानाश्रय नहीं। वृत्तिरूप ज्ञान के आश्रय प्रमाता की उसी में कल्पना होती है। इसी लिये उसमें ज्ञातृत्व का व्यवहार भी काल्पनिक ही है। ज्ञानस्वरूप में ही नित्यता होती है। कर्ता प्रमाता में विकारी होने से अनित्यता ही है। प्रमाता की उपाधि अन्तःकरण-मुक्ति में रहती नहीं, अतः मुक्ति में प्रमाता नहीं रहता।

कहा जा सकता है कि "इस तरह तो जैसे मुक्ति में अन्तःकरण न रहने से अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाता नहीं रहता, इसी तरह अन्तःकरणोपहित साक्षी भी

मुक्ति में न रहेगा, क्योंकि अन्तःकरणाभाव से दोनों का ही अभाव ध्रुव होगा।" पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि विशेषणाभाव से विशिष्टाभाव सिद्ध होता है तथापि उपाधि के अभाव से उपहित का अभाव नहीं सिद्ध होता है। जैसे रूप के अभाव में रूपविशिष्ट घट का अभाव कहा जा सकता है परन्तु घटोपहित नभ का अभाव घट के अभाव से नहीं सिद्ध होता। इस तरह अन्तःकरण रूप उपाधि के न रहने पर भी अन्तःकरणोपहित चैतन्य रूप साक्षी या प्रत्यगात्मा का अभाव नहीं सिद्ध होता है।

वस्तुतस्तु अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाता में भी जो चैतन्यरूप विशेष्यांश है उसका बाध मुक्ति में भी नहीं होता। जैसे उपहित आत्मा में उपधेय चैतन्यांश का बाध नहीं होता है वैसे ही विशिष्ट के विशेष्यांश के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इसी लिये प्रमाता की मुक्ति के लिए प्रवृत्ति में कोई बाधा न होगी। विशेषण के द्वारा शुद्ध चैतन्य में ही प्रमातृत्व एवं साधकत्व बनता है। यही आप्तों ने कहा है—

अज्ञमा भवतः केयं साधकत्व प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान कल्पितम्॥

अर्थात् आत्मा के साधकत्व कल्पना में ही क्यों असंदिग्धता है जब कि सारा संसार ही उसी में कल्पित है। इस दृष्टि से आत्मा का प्रमातृत्व ही बाधित होता है। चैतन्यरूपता तो नित्य एवं सत्य ही है, तद्भिन्न सब कुछ मिथ्या है ही। 'तत्सत्यं, अतोऽन्यदार्त्तम्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही कहती हैं कि वही सत्य है। उससे भिन्न सब भंगुर दृष्टनष्ट स्वरूप है, विज्ञान या प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

जो कहते हैं कि "जैसे प्रकाशस्वरूप मणिप्रभा का आश्रय होता है वैसे ही ज्ञानस्वरूप भी आत्मा ज्ञान का आश्रय हो सकता है।" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि मणि स्वयं प्रभा का रूप नहीं अतः उस दृष्टान्त से ज्ञानरूप आत्मा में ज्ञानाश्रयता नहीं सिद्ध हो सकती है। किन्तु प्रभावान् द्रव्य ही मणि है। मणि में काठिन्यनादि पार्थिवांश है, प्रकाश तैजस् अंश है। एक ही वस्तु में धर्मत्व धर्मित्व दोनों नहीं हो सकता, यह कहा जा चुका है।

यह भी कहा जाता है कि "स्वयं अपरिच्छिन्न ही ज्ञानसंकोचविकास के योग्य है," पर यह भी ठीक नहीं। जो अपरिच्छिन्न एवं पूर्ण है उसमें संकोच-विकास असंभव है। पद्मादि परिच्छिन्न वस्तु में ही वह बन सकता है क्योंकि

सर्वत्र अस्तित्व ही तो अपरिच्छिन्नता या अपूर्णता है। नित्यता ही अपरिच्छिन्नता है ऐसा मानने पर भी संकोचविकासशाली वस्तु में नित्यत्व असंभव ही है। अतः अनित्य वृत्ति ज्ञान में ही संकोच, विकास आदि संभव है। वह आत्मधर्म नहीं है और न आत्मस्वरूप ही, किन्तु अन्तःकरण का ही धर्म है।

कुछ लोग कहते हैं कि "आत्मा धात्वर्थ क्रिया का आश्रय नहीं होता यह कहना गलत है। यदि आत्मा परमार्थभूत धात्वर्थ का आश्रय नहीं होता तब तो घटादि भी परमार्थभूत क्रिया का आश्रय न होने से आत्मा ठहरेंगे। यदि अपरमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व आत्मा में अमान्य है यह कहा जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि फिर भेदभ्रम का आश्रय होने से आत्मा में अनात्मत्वापत्ति होगी।" परन्तु यह सब कथन असंगत है। वस्तुतः स्व समान सत्तावाले धात्वर्थ का आश्रय होना ही अनात्मता का आपादक होता है, एतावता आत्मा में होनेवाला भेदभ्रम आत्मा के समान सत्तावाला नहीं है क्योंकि आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है और भेदभ्रमादि व्यावहारिक सत्तावाले हैं। अथवा अपरमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व ही अनात्मत्व है, आत्मा में वह नहीं है क्योंकि धात्वर्थ अपरमार्थ होने से आत्मा में तदाश्रयत्व भी अपारमार्थिक ही होगा। इस तरह अपारमार्थिक आश्रयत्व से पारमार्थिक आत्मा का कोई संबन्ध ही नहीं होगा, अतः आत्मा में अपरमार्थभूत धात्वर्थाश्रयत्व हो ही नहीं सकेगा। अपरमार्थ अनात्मा ही में अपरमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व होगा, अतएव मिथ्याभूत प्रपञ्चाश्रयत्व भी आत्मा में वैसे ही मिथ्याभूत है जैसे मरुभूमि में मिथ्याभूत जलाश्रयत्व भी मिथ्या ही है। घट के अमिथ्या होने से भूतल में घटाश्रयत्व भी अमिथ्या (व्यावहारिक) मान्य होता है। अतः अनात्मा ही अपरमार्थभूत धात्वर्थ का आश्रय होता है। देहादि अनात्मा में होनेवाला गमनादि धात्वर्थ व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अथवा परमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व ही अनात्मत्व है, घटादि लौकिकपरमार्थभूत धात्वर्थाश्रय होने से अनात्मा है। किन्तु आत्मा में प्रतीयमान धात्वार्थाश्रयत्व रज्जुसर्प की तरह लौकिक परमार्थभूत नहीं अपितु मिथ्या ही है।

कहा जा सकता है कि "तब तो लौकिक परमार्थभूत धात्वार्थाश्रय न होने से रज्जुसर्पादि में अनात्मत्व न रहेगा।" पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि लौकिक परमार्थभूत धात्वर्थ का अनाश्रय होकर व्यवहार कालाबाध्यत्व ही अनात्मत्व का लक्षण है। इसमें प्रथमांश न होने से घटादि में आत्मत्व प्रसक्ति होगी

और अंतिम अंश न होने से रज्जुसर्प में आत्मत्व प्रसक्ति होगी। अतः उभयांश होने से अनात्मत्व का ठीक निर्वचन हो जाता है।

कहा जाता है "ज्ञान नित्य है। उसका इन्द्रिय द्वारा प्रसर होता है। इसी प्रसर की अपेक्षा से ज्ञान का उदय एवं अस्त कहा जाता है। ज्ञानप्रसर में कर्तृत्व तो है ही परन्तु वह स्वाभाविक नहीं है किन्तु कर्मकृत है। इस प्रकार का विक्रियात्मक ज्ञातृत्व ज्ञानरूप आत्मा का ही होता है।" परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यहाँ यह प्रश्न होगा कि आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है? अथवा धर्मभूत ज्ञान नित्य है? अथवा दोनों ही नित्य हैं? पहला पक्ष तो इष्ट ही है। दूसरा पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि 'अतोऽन्यदार्त्तं' श्रुति के अनुसार ज्ञानस्वरूप आत्मा से भिन्न सब कुछ आर्त्त (असत्) है। अतएव तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं।

कहा जाता है "ज्ञान गुणवाला ब्रह्म ही सत्य है, यही उक्त श्रुति का अर्थ है।" पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'निर्गुणं निष्क्रियं' इत्यादि श्रुति ब्रह्म को निर्गुण बतलाती है। कहा जाता है निर्गुण का अर्थ सत्वादि गुण रहित ही है, परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' इस गीतावचन के अनुसार सत्व से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। जो सत्त्वादि गुण रहित होगा उसमें ज्ञान-सत्ता संभव नहीं। इसी गीतावचन से ज्ञान की अनित्यता भी सिद्ध होती है। यह सब कथन स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न वृत्तिज्ञान के सम्बन्ध में ही संगत है।

कहा जाता है "चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा प्रसरावस्था को प्राप्त ज्ञान ही अनित्य है। ज्ञान का प्रसर ही उत्पन्न होता है ज्ञान नहीं।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि निरवयव में प्रसर भी नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि ज्ञान सावयव ही है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि सावयव होने से उसमें अनित्यता ध्रुव होगी। कहा जाता है कि 'निरवयव नित्य है यह व्याप्ति नहीं, निरवयव गगन भी अनित्य होता है, वेदान्त में उसकी उत्पत्ति तथा प्रलय श्रुत है।' पर यह भी कथन ठीक नहीं; कारण गगन की निरवयवता असंप्रतिपन्न ही है। आत्म-भिन्न निरवयव कुछ भी नहीं यही श्रुति सिद्धान्त है। सावयव होने से ही आकाश का जन्मादि मान्य है। अतः आत्मस्वरूप ज्ञान से अन्य सब कुछ अनित्य ही है। इसलिए सब कुछ आत्मकर्तृत्व ही है। जो कृत होता है वह अनित्य है ही। 'ज्ञानप्रसर ही कृत होता है ज्ञान कृत नहीं होता' यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि निरवयव नित्य ज्ञान का प्रसर उपपन्न नहीं हो सकता। कहा जाता है—'ज्ञान प्रसर अद्वैताचार्य को भी मान्य ही है—

नानाच्छिद्र घटोदर स्थित महादीपप्रभा भास्वरम् ।
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरण द्वारा बहिः स्पन्दते ॥

जैसे नाना छिद्रवाले घटोदर स्थित महादीप की प्रभा भिन्न भिन्न छिद्रों के द्वारा फैलती है वैसे ही चक्षुरादि करणों द्वारा जिसका प्रकाश बहिः प्रसृत होता है वही इन्द्रिय छिद्रवाले देह में रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा है।' परन्तु यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि यहाँ आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का प्रसार नहीं कहा गया अपितु चक्षुरादि इन्द्रियों के वहिर्निःसृत विषयाकार परिणत अन्तःकरण वृत्ति पर आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) ही वहिस्पन्द रूप से विवक्षित है। तादृश वृत्ति के जन्य होने से तदवच्छिन्न ज्ञान में भी जन्यता का उपचार होता है अतः सिद्धान्त में कोई हानि नहीं।

कहा जा सकता है कि धर्मभूत ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही उपपत्ति दी जा सकती है। पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वरूप ज्ञान के वृत्ति प्रतिफलन से सर्वकार्य निर्वाह हो ही जाता है, तब फिर तदतिरिक्त धर्मज्ञान की कल्पना निरर्थक तथा अप्रामाणिक ही होगी। जो कहा जाता है कि 'आत्मा में इस प्रकार का ज्ञानक्रिया कर्तृत्व कर्म कृत है' वह भी ठीक नहीं क्योंकि यही प्रश्न होगा कि कर्म कृत है इसका क्या अर्थ है? केवल कर्मों से ही ज्ञान कृत होता है? या कर्म के निमित्त से आत्मा के द्वारा ज्ञान कृत होता है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि घट के तुल्य कर्म जड़ ही है। फिर उसमें ज्ञानकर्तृत्व कैसे बन सकेगा? दूसरा पक्ष माना जायगा तब तो आत्मा में स्वाभाविक ज्ञानकर्तृत्व होगा ही। जैसे प्रतिवादी के मतानुसार कर्मकृत देहाधिष्ठातृत्व रूप कर्तृत्व स्वाभाविक ही है वैसे ही ज्ञानकर्तृत्व कर्मकृत होने पर भी स्वाभाविक ही होगा। यदि आत्मा का ज्ञानकर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है तो फिर ज्ञातृत्वाभाव ही स्वाभाविक ठहरेगा। इसे इष्टापत्ति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञातृत्व-रहित आत्मा ज्ञानगुणक नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञातृत्व ही ज्ञानगुण है अतएव सिद्धान्त में ज्ञान ही आत्मा है ज्ञानगुणक नहीं।

कहा जाता है "यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व नहीं है तब तो जड़ अहङ्कार में भी ज्ञातृत्व नहीं होगा, फिर ज्ञातृत्व कहीं भी नहीं सिद्ध होगा।" पर यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि जड़ अहङ्कार में ही चिच्छायापत्ति या चित्प्रतिबिम्ब के द्वारा ज्ञातृत्व की उपपत्ति कही जा चुकी है।

कहा जाता है कि "चिच्छायापत्ति क्या है? संविद् की अहङ्कार में छायापत्ति अथवा अहङ्कार की संविद् में छायापत्ति होती है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि संविद् में जब ज्ञातृत्व है ही नहीं तो उसकी छाया से भी अहङ्कार में ज्ञातृत्व कैसे आयेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि जड़ अहङ्कार में भी ज्ञातृत्व नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त दोनों ही अचाक्षुष हैं अतः अचाक्षुष पदार्थों की कहीं भी छाया दृष्ट नहीं है।" परन्तु यह सब कथन निःसार है। क्योंकि संविद् की अहङ्कार में छायापत्ति मान्य है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अहङ्कार में संविद् की छायापत्ति होती है। परन्तु छाया ज्ञातृत्वरूप नहीं है जिससे कि संविद् में ज्ञातृत्व न मानना दूषण हो किन्तु जैसे दर्पण में सूर्य प्रतिफलित होता है वैसे ही अहङ्कार में संविद् प्रतिफलित होती है। इस तरह व्यापारवान् अहङ्कार में चिच्छायापत्ति से ज्ञातृत्व का व्यवहार हो जाता है। अचाक्षुषों की छाया नहीं दृष्ट है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अचाक्षुष गगन का जल में प्रतिबिम्ब देखा ही जाता है।

जो कहा जाता है कि "चाक्षुष आलोक का ही प्रतिबिम्ब होता है", यह भी ठीक नहीं। क्योंकि गगन के बिना केवल तम या आलोक नहीं भासित होता। गगनभाग व्यापी प्रकाश या तम के चाक्षुष होने पर भी साक्षि प्रत्यक्षसिद्ध गगन अचाक्षुष ही है। प्रकाश या तम जिसमें उपलब्ध होता है वह प्रकाशादि का अधिष्ठान ही नभो द्रव्य है। वह चक्षुर्ग्राह्य न होने पर भी सुखादि के तुल्य साक्षिवेद्य ही है। कहा जाता है कि 'यदि गगन अचाक्षुष है तब तो चक्षुर्व्यापार के बिना भी उसका उपलम्भ होना चाहिये।' परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि गगन में आधृत प्रकाश एवं तम के ग्रहणार्थ ही चक्षुर्व्यापार भी आवश्यक होता है। चक्षु द्वारा आधेय प्रकाशादि के ग्रहण होने पर ही तदाधारभूत गगन की प्रतीति होती है। यदि कहा जाय कि गगन का प्रतिबिम्ब नहीं होता तो यह ठीक नहीं क्योंकि गगन प्रतिबिम्ब बिना जानुपरिमित जल में अगाधता की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी तरह अचाक्षुष शब्द की प्रतिशब्द रूप छाया भी दृष्ट है। श्रुति एवं सूत्रकार को चित्प्रतिबिम्बवाद स्वीकृत है। अतीन्द्रिय शास्त्रसिद्ध अर्थ में शङ्का को अवकाश नहीं होता।

"एको यथा ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधा संविभाति"१... "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" श्रुतिः। अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्" ।–ब्र० सू०।

कहा जाता है "वह्नि में दाहकत्व होने के कारण उसके सम्पर्क से लोहपिण्ड में दाहकत्व होता है। परन्तु संविद् में तो ज्ञातृत्व है ही नहीं फिर उसके सम्पर्क से अहङ्कार में ज्ञातृत्व कैसे आ सकेगा ?" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सूर्य के तेज में दग्धृत्व न होने पर भी उसके सम्पर्क से सूर्यकान्त आदि में दाहकत्व देखा जाता है, वैसे ही संविद् में ज्ञातृत्व न होने पर भी उसके संसर्ग से अहङ्कार में ज्ञातृत्व हो जाता है।

कहा जाता है कि "असङ्ग आत्मा का अहङ्कार से संसर्ग भी कैसे हो सकेगा"; पर यह भी ठीक नहीं, कारण आत्मा का अहङ्कार से वास्तविक संसर्ग न होने पर भी आध्यासिक संसर्ग है, उसी से सब काम चल जायगा।

अहङ्कार अनुभूतिका व्यंजक होता हुआ दर्पण के तुल्य स्वात्मा में ही उसका व्यंजन करता है। कहा जाता है कि "आत्मा तो स्वयंज्योति है। फिर वह व्यङ्ग्य कैसे होगा ? इसी तरह जड़ अहङ्कार में अभिव्यञ्जन शक्ति भी नहीं हो सकती। स्वयंज्योति आत्मा से सभी पदार्थ ही व्यक्त होते हैं।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्कार के चिदभिव्यञ्जक होने का यह अर्थ नहीं है कि अहङ्कार चित् का प्रकाशक है। किन्तु चित्प्रतिबिम्ब का ग्रहण करना ही उसकी चिदभिव्यञ्जकता है। अहङ्कार स्वच्छ द्रव्य होने से चित्प्रतिबिम्ब ग्राहक होकर चित्सामान्य से प्रकाशित उन उन विषयों को, तत्तदाकार वृत्ति द्वारा विशेष रूप से प्रकाशन करता है और इस तरह यद्यपि वह साभास अहङ्कार ही आत्माकार वृत्ति के द्वारा चित् का भी अवभासक है, तथापि वह वृत्ति के द्वारा चित् के आवरक अज्ञान का ही नाशक होने से चित् का ज्ञाता कहा जाता है। स्वप्रकाश के लिये प्रकाश अपेक्षित नहीं है। इसी लिये कहा गया है कि—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते ॥

अतः साभास अहङ्कार चिदावरक अज्ञाननाश के द्वारा चित् का अभिव्यञ्जक होता है। इसी तरह चिद्भास्य भी अहङ्कार चित्प्रतिबिम्ब ग्रहण द्वारा चित् का व्यञ्जक होकर सर्वविषय का भासक होता है अतः वही ज्ञाता कहलाता है। कहा जाता है कि 'अहङ्कार का प्रकाशक आत्मा अहङ्कार से व्यङ्ग्य नहीं हो सकता।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण देखा ही जाता है कि सूर्य चक्षुका प्रकाशक होता हुआ भी चक्षु से भास्य होता है। सूर्य से प्रकाशित ही दर्पण सूर्य प्रतिबिम्ब का ग्राहक होता है। आत्मभास्य मन से ही आत्मा का बोध होता

है यह प्रतिवादी को भी स्वीकृत ही है। आत्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तथापि अन्तःकरण में ही उसका उपलम्भ होता है इसी लिये अन्तःकरण चित् का अभिव्यञ्जक कहा जाता है। आत्मा अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर ही स्व पर विषयक विशेष ज्ञानवान् होता है। इसलिये भी अन्तःकरण चित् का अभिव्यञ्जक माना जाता है। सर्वथापि साभास अहङ्कार ही ज्ञाता है।

कहा जाता है कि "अहङ्कार और अनुभव का स्वभावविरोध है"; पर यह कहना ठीक नहीं, कारण अहङ्कार का जाड्य स्वभाव होने पर भी अनुभव निर्धर्मक होने से निःस्वभाव है अतः विरोध की कोई संभावना नहीं है। यदि अहङ्कार का प्रकाश्यत्व स्वभाव है, अनुभव का प्रकाशकत्व स्वभाव है तो भी इन दोनों स्वभावों का कोई विरोध नहीं है। प्रकाशक से प्रकाश्य प्रकाशित होता है जैसे दीप से घट। दीप एवं घट का तेज तम के तुल्य विरोध नहीं है। तेज से तम का प्रकाश नहीं होता किन्तु तेज से तम का निर्मूलन होता है अतः प्रकाश्य प्रकाशक आत्मा एवं अहङ्कार का स्वभावविरोध नहीं है। स्वरूपविरोध भी नहीं है। जैसे सूर्य के आवरक राहु का भी सूर्य से ही प्रकाश होता है वैसे संविद् के आवरक अज्ञान का भी संविद् से ही प्रकाश होता है। फिर अहङ्कार के संविद्भास्य होने में तो कोई विरोध है ही नहीं।

जो कहा जाता है कि "यदि आत्मा व्यङ्ग्य होगा तो वह घट के तुल्य अनुभूति स्वरूप ही न हो सकेगा।" परन्तु प्रतिवादी स्वयं ही तो कहता है कि यदि अनुभूति का अनुभव न होगा तो अनुभूतित्व ही नहीं सिद्ध होगा। उसके मत में आत्मा वेद्य है ही। सिद्धान्त रीति से भी अज्ञान रूप आवरण निवृत्ति की दृष्टि से अनुभवस्वरूप आत्मा में भी अहङ्कारादि वेद्यता कही ही जा चुकी है।

कुछ लोग कहते हैं "रविरश्मि प्रतिघात दर्पण में रश्मिवाहुल्य का हेतु होता है वह व्यञ्जक नहीं होता। रविरश्मियाँ स्वाभिव्यङ्ग्य दर्पण से व्यङ्ग्य नहीं हो सकतीं।" परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी बात है तो भूतल भी रश्मि प्रतिघात द्वारा रश्मिबाहुल्य का हेतु क्यों नहीं होता ?

अहमर्थ एवं आत्मा

फिर भी कुछ लोग अहमर्थ के ही आत्मा होने पर बल देते हैं और उसे ही सुप्ति एवं मुक्ति में अन्वयी भी मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्ति में यदि अहमर्थ विद्यमान होता तो उसका धर्म इच्छादि विद्यमान होना चाहिये था। अज्ञान का होना उसमें बाधक नहीं है क्योंकि वह अज्ञान का धर्म न होकर प्रतिपक्षी के मत में कारण है। चैतन्य और अहङ्कार में परस्पर अभेद अध्यस्त है, यह पूर्वपक्षी की भाषा अशुद्ध है। परस्पर तादात्म्याध्यास भी कहना संगत नहीं क्योंकि अहङ्कार चैतन्य में स्वरूपेण अध्यस्त है, अहङ्कार में चैतन्य का तादात्म्य रूप संसर्ग अध्यस्त है, यही अन्योऽन्याध्यास है। अविद्या एवं अहमर्थ से उपहित चैतन्य में ही अनुभवस्मरण होता है, अतः स्मृति और अनुभव का वैयधिकरण्य दोष नहीं है। अविद्या और अहङ्कार दोनों घनीभूत एवं द्रवीभूत घृत के तुल्य अभिन्न ही वस्तु हैं, अतः दोनों में भिन्नता नहीं होती। यह ठीक ही है कि कई अविज्ञात पदार्थों का अस्तित्व मान्य होता है, पर क्या इतने से ही अज्ञात सुख दुःख भी माने जा सकते हैं? यदि नहीं, तो सुखादि के समान ही अहमर्थ भी अविज्ञात कैसे रह सकता है? नैयायिकों के यहाँ तो आत्मा जड़ है, फलदायक धर्माधर्म सहकृत मन के योग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। सुषुप्ति में फलदायक कर्मों की उपरति होती है, अतः ज्ञान न होना ठीक है। किन्तु जिनके यहाँ आत्मा ज्ञान स्वरूप है वह यदि है तो क्यों नहीं भासमान होगा, अद्वैती के मत में तो अहं सदा ही साक्षिभास्य होता है। यदि अहं है तो साक्षि सम्बन्ध भी अनिवार्य ही है फिर उसकी अप्रकाशमानता कैसे बन सकती है? जो कहा जाता है कि 'प्रलय काल में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने पर भी अद्वैतमत में अहमर्थ भासमान नहीं होता;' यह ठीक नहीं, क्योंकि अहमर्थ सूक्ष्म रूप से रहता है। इसका अर्थ यह है कि अविद्यामय कारणरूप से अहमर्थ रहता है। घट मृत्तिका रूप से रहता है, फिर भी जैसे मृत्तिका दशा में घट की प्रतीति नहीं होती वैसे ही प्रलय काल में अविद्यारूप में रहने पर भी अहङ्कार की प्रतीति कैसे होगी?

"वाह्य एवं आन्तर इन्द्रियों द्वारा वृत्ति होने पर अहमर्थ का भान होता है अतएव अहमर्थ बिना प्रकाश के भी रहता है। अद्वैतियों को यह मान्य है, यह

कहना निराधार है।" यदि वृत्तिसापेक्ष भी अहङ्कार का प्रकाश होता हो तो भी जैसे अज्ञान के ग्रहण के लिये सुषुप्ति में अविद्या वृत्ति बनती है, जैसे जाग्रत् दशा में अहं के रहने पर वृत्ति बनती है वैसे ही सुषुप्ति में यदि अहङ्कार होता तो वृत्ति बनने में भी क्या बाधा थी ? अतः स्पष्ट है कि सुषुप्ति में बिना प्रकाश के अहङ्कार की सत्ता वेदान्तियों को कभी भी मान्य नहीं 'अतएव यदि भिन्न-भिन्न दिन की अहङ्कार व्यक्तियाँ भिन्न हों तो पूर्व दिनों के किये हुये कर्मों या अनुभूत वस्तुओं का स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा न होनी चाहिये, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के किये हुये कर्मों या अनुभूत वस्तुओं का अन्य व्यक्ति स्मरण नहीं कर सकता किन्तु यहाँ स्पष्ट अनुभव होता है कि मैंने पूर्व दिनों में ये कर्म किये हैं, इन इन वस्तुओं का अनुभव किया है और मैं वही हूँ। अहन्त्व का आश्रय होने मात्र से यदि पूर्व दिन के अहं एवं उत्तर दिन के अहं को एक माना जाय तब तो सुषुप्ति काल के सूक्ष्म अहम् में भी अहन्त्व रहता ही है फिर सुषुप्ति में अहम् का अभाव क्यों माना जाय ? जागर एवं स्वप्न में अहं रहता है और सुषुप्ति में वह नष्ट हो जाता है। फिर जागर में उसकी उत्पत्ति होती है। सुषुप्ति में पुनः उसका नाश होता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न अहं व्यक्तियों का संगठन अहमर्थ है। यह अद्वैतियों का सिद्धान्त बौद्धों का अनुकरण है। बौद्धों ने भी क्षणिक आलयविज्ञान की सन्तान को ही अहमर्थ माना है।' परन्तु किञ्चिन्मात्र भी गंभीरता से विचार करने पर विदित होगा कि उक्त कथन कितना निःसार है। पीछे कहा जा चुका कि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य और अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के अभेद से अनुभव एवं स्मरण के कर्ता की अभिन्नता सिद्ध ही है। अहमर्थविचार में यह बात विस्तार से कही गई है। अन्तःकरण एवं अविद्या का भी कार्यकारण भाव होने से द्रवीभूत एवं घनीभूत घृत के तुल्य अभेद कहा गया है, अतः अविद्यावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में अभेद है ही; वह तीनों अवस्थाओं का और सभी दिनों, मासों, वर्षों, युगों एवं कल्पों का भी एक ही है। जैसे मठोपहित आकाश एवं मठान्तर्गत घटोपहित आकाश दोनों अभिन्न ही होते हैं वैसे ही अविद्योपहित चैतन्य एवं अविद्यान्तर्गत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का अभेद भी सिद्ध ही है। अहन्त्वाश्रय होने से प्रतिदिन के अहङ्कारों की एकता है यह कथन अनभ्युपगम पराहत है। इस तरह तो भिन्न भिन्न प्राणियों के अहं में भी अहन्त्व होने से सब की एकता होगी फिर तो देवदत्त यज्ञदत्तादि के अहं व्यक्तियों का भी भेद न सिद्ध होगा।

इसी तरह सुषुप्ति के सूक्ष्म अहं में भी अहन्त्व रहेगा यह कहना भी असंगत है। क्योंकि सुषुप्ति में अहङ्कार स्वरूप से रहता ही नहीं। उस समय अविद्या रूप से वह रहता है फिर जैसे मृत्तिकाभावापन्न घट में घटत्वाश्रयता नहीं हो सकती वैसे अविद्याभावापन्न अहङ्कार में अहन्त्वाश्रयता भी कैसे रहेगी। बौद्धों के आलयविज्ञान सन्तान का अनुसरण तो वही करते हैं जो अहमर्थ को आत्मा मानते हैं। वेदान्ती तो अनन्त अखण्ड कूटस्थ चैतन्य को आत्मा मानते हैं। वेदान्तियों के अनुसार आलयविज्ञान सन्तान या अहमर्थ सन्तान सब अनात्मा ही है। वेदान्तियों के अक्षणिक अहमर्थ और बौद्धों के क्षणिक ज्ञान में कोई साम्य नहीं है। बौद्धों का विनाश निरन्वय होता है किन्तु वेदान्तियों के यहाँ विनाश भी सान्वय होता है। सान्वय विनाश होने से प्रतिदिन के अहमर्थ में भिन्नता भी नहीं रहती। अतएव गीता का कहना है कि यह वही भूतग्राम पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्रविलीन होता है—'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।' जिस मैंने पूर्व दिन में अमुक अमुक कार्य किया वहीं मैं अब सोकर उठा हूँ इस प्रत्यभिज्ञा से जो लोग सुषुप्ति में अहमर्थ की सत्ता सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें अनुभवविरोध एवं श्रुतिविरोध पर भी ध्यान देना चाहिये जो कि अभी पीछे दिखाया जा चुका। प्रतिपक्षी कहता है कि सुषुप्ति में अहमर्थ रूप आत्मा का प्रकाश होता है परन्तु ठीक इसके विपरीत उपनिषद् कहती है कि आत्मा सुषुप्ति में मैं हूँ ऐसा नहीं जानता—'न विजानात्ययमहमस्मीति छान्दोग्य प्रजापति विद्याम्।'

जो समझते हैं कि "सोने के पश्चात् एवं जागने के पहले के व्यवहारों का स्मरण न होने से उस समय के व्यवहाराभाव और ज्ञानाभाव रूप निद्रा का जैसे अनुमान होता है, उसी प्रकार उस समय के अहमर्थ आत्मा का भी अनुमान हो जाता है। मैं निद्राकाल में वर्तमान रहा था क्योंकि पूर्व दिनों के अनुभूत अर्थों का स्मरण हमें हो रहा है।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त सर्वत्र स्थलों में अहं या मैं शब्द का प्रयोग अहं पद वाच्यार्थ ग्रन्थि में न होकर अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य में ही होता है। उसका अस्तित्व वेदान्ती को भी मान्य है ही क्योंकि सुप्ति में भी अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य ही अविद्या-वच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है। इस तरह जब प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति अन्यथा हो जाती है तब ज्ञानसत्तावाले अहं का अननुभव एवं श्रुतिविरुद्ध अज्ञात सत्ता क्यों मानी जाय? अन्यथा इसी तरह अज्ञात सुख की सत्ता भी माननी पड़ सकती है। परन्तु 'सुखमस्वाप्सम्' के तुल्य 'नाहमवेदिषम्'

मैं सुखपूर्वक सोया था, मैंने उस समय कुछ नहीं जाना, यह सुप्तोत्थित को स्मरण होता है। वह स्मरण अनुभवमूलक ही है अतः सुप्ति में सुख एवं अज्ञान का अनुभव मानना ही चाहिये। ज्ञानाभावरूप सुप्ति नहीं होती किन्तु सुख एवं भावरूप निद्रा अज्ञानादि की अवस्थाविशेष ही सुषुप्ति है, यह मानना चाहिये। पूर्वोक्त अनुमान अद्वैती के प्रति सिद्ध साधन ही ठहरता है क्योंकि विशेष विज्ञानाभाव भी अद्वैती को मान्य ही है, आत्मा भी मान्य है ही वह आत्मा अहमर्थ नहीं किन्तु अहं पद लक्ष्यार्थ साक्षी है। उसी से निद्रा अज्ञानादि का भी प्रकाश होता है।

"जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजाः स्मृताः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥"

जाग्रदादि तीनों अवस्थायें बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। ज्ञानाभाव मात्र निद्रा नहीं है। अतएव योगशास्त्र में भी वृत्तिविशेष ही निद्रा मान्य है। तीनों का अनुभविता साक्षी नित्य ही है। उसी को लेकर प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है।

यह भी कथन ठीक नहीं है कि "अहमर्थ के नष्ट हो जाने से तदाश्रित संस्कार भी नष्ट हो जायँगे।" संस्कार न होंगे तो उत्तर काल में स्मरण नहीं बन सकेगा। क्योंकि अहमर्थ ही संस्कारों का आधार होता है। कारण उसी ने पहले अनुभव किया उसी में संस्कार हुये हैं। अतः संस्काराधार अहमर्थ सुषुप्ति में अविद्या रूप से रहता है। संस्कार भी अविद्या में रहता है। अविद्या पुनः अन्तःकरण रूप में प्रकट होती है तो संस्कार भी रहते ही हैं। अहंकार का निरन्वय विनाश नहीं होता, यह कहा ही जा चुका है। कुछ लोग कहते हैं कि "सुषुप्ति में ज्ञानरूपी चैतन्य तथा अविद्या रूपी अज्ञान नहीं रह सकता। ज्ञाता को छोड़कर ज्ञान और अज्ञान नहीं रह सकते। जब अहमर्थ ज्ञाता सुषुप्ति में रहता ही नहीं तब ज्ञान अज्ञान कैसे रह सकते हैं? 'मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता' इन अनुभवों से सिद्ध होता है कि अहमर्थ में ही ज्ञान अज्ञान होते हैं। अतः सुषुप्ति में (ज्ञान) चैतन्य (अज्ञान) अविद्या ये दोनों संस्कार के आधार नहीं बन सकते अतः उत्तरकालिक स्मरणों से संस्कारों का आधार अहमर्थ मानना चाहिये"। परन्तु यह कथन निरर्थक है कारण वेदान्तियों का आत्मरूप चैतन्य अहमर्थाश्रित जन्यज्ञानरूप नहीं है किन्तु अहमर्थभासक नित्य स्वप्रकाश साक्षिस्वरूप है। इसी तरह अविद्या भी अहमर्थाश्रित ज्ञानाभाव रूप नहीं, किन्तु अहमर्थ जननी अचिच्छक्ति रूप है अतः अहमर्थ के न रहने

पर भी उनका रहना संभव है। वे ही संस्कारों वे आधार हो सकते हैं। उन्हीं से स्मरणादि सूपपन्न हो सकेंगे। सुषुप्ति में चिज्जड ग्रन्थिरूप अहमर्थ के न रहने पर भी चैतन्यरूप साक्षी रहता ही है। वही द्रष्टा एवं आत्मा है। वही ज्ञान एवं अज्ञान का द्रष्टा रहता है। वह बोध स्वरूप होनेपर भी भास्य संसर्ग की अपेक्षा से द्रष्टा और ज्ञाता कहा जाता है। उसके स्वरूपभूता दृष्टि का विपरिलोप कभी भी नहीं होता यह श्रुति कहती है "न हि द्रष्टुर्दृष्टे र्विपरिलोपो भवति" द्रष्टा की स्वरूपभूता दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता है। जैसे संनिधान मात्र से निर्व्यापार प्रकाश स्वरूप सविता में भी प्रकाशकत्व का व्यवहार होता है, वैसे ही नित्य बोध स्वरूप आत्मा में भास्य संसर्गापेक्षया प्रकाशकत्व द्रष्टृत्व ज्ञातृत्वादि का व्यवहार होता है।

पुनश्च कुछ लोग कहते हैं कि "जब चैतन्य निर्विकार एवं निर्विशेष है तो वह संस्कारों का आधार कैसे बन सकेगा? क्योंकि संस्कार तो विकार या धर्म ही है।" यह कथन भी निःसार है, कारण निरुपाधिक चैतन्य यद्यपि संस्कारों का आधार नहीं बनता तथापि सोपाधिक बन सकता है। सुषुप्ति का संवित्स्वरूप आत्मा तो अविद्यारूप उपाधि से युक्त है ही। फिर उसके अविद्या के द्वारा संस्काराश्रय होने में क्या आपत्ति हो सकती है? इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'यदि संस्कारों का आधार अविद्या है तब तो उसी को ज्ञाता होना पड़ेगा, फिर अहङ्कार को ज्ञाता स्मर्ता मानना असंगत होगा। अविद्या में विद्यमान संस्कारों से अहङ्कार का स्मरण नहीं हो सकेगा।' परन्तु यह कथन भी सिद्धान्त न समझने का ही परिणाम है। पीछे कहा जा चुका है कि वह अविद्या ही जाग्रत् काल में अहङ्कार बन जाती है अतः उसमें अत्यन्त भिन्नता नहीं है। घनीभूत घृत एवं द्रवीभूत घृत की भिन्नता जैसी ही दोनों की भिन्नता ठीक समझ लेनी चाहिये। साथ ही यदि अहमर्थ संस्कार का आश्रय होने से विकारी होगा तब तो प्रतिपक्षी के अहमर्थरूप आत्मा की भी अनित्यता ही सिद्ध होगी, फिर तो उसे नित्य आत्मा की संज्ञा देना भी असंगत ही होगा।

कहा जाता है कि "बौद्ध क्षणिकविज्ञानसंतति को आत्मा मानते हैं। ज्ञानों की भिन्नता के कारण पूर्व पूर्व ज्ञानों के द्वारा अनुभूत का स्मरण उत्तरोत्तर ज्ञानों से नहीं हो सकेगा, यही अद्वैतवादियों द्वारा उनपर दोष लगाया जाता है। परन्तु अद्वैतियों के समान बौद्ध भी कह सकते हैं कि कारण बननेवाले पूर्व पूर्व ज्ञानों से उत्पन्न संस्कार उत्तरोत्तर ज्ञानों में संक्रान्त होकर उनमें स्मरण उत्पन्न

कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में अद्वैतियों द्वारा यह दोष बौद्धों के प्रति नहीं दिया जा सकता। क्योंकि वही बात अद्वैतियों पर भी लागू होती है।'' परन्तु यह भी कथन निःसार है, कारण बौद्धों के सभी ज्ञान क्षणिक होते हैं। क्षणिकों में कार्यकारण भाव नहीं बन सकता। किन्तु अहमर्थ स्थायी होता है। विज्ञान का निरन्वय नाश होता है। अर्थात् उसका किसी रूप में अस्तित्व नहीं रह जाता। किन्तु वेदान्तियों के अहमर्थ का सान्वय नाश होता है। वह अविद्या रूप में बना रहता है। फिर भी वह अहमर्थ वेदान्तियों को आत्मा रूप से नहीं मान्य है। किन्तु अहङ्कार द्वारा या अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा अनुभव, स्मरणादि की व्यवस्था संपादित की जाती है। प्रत्यभिज्ञा का आलम्बन भी वही है। इतना महान् अन्तर होने पर भी अद्वैतियों में बौद्ध संस्कार की कल्पना अवश्य ही द्वेषमूलक है। यदि दोनों ही के असत्कार्य एवं सत्कार्य की विलक्षणता पर भी ध्यान दिया जाय तो भी उनके मन्तव्यों में महान अन्तर है। यों तो फिर द्वैत अद्वैत दोनों की समान सत्ता मानकर समन्वय करनेवाले लोग भी अनेकान्तवादि जैनों के समकक्ष माने जाने लगेंगे। यह कहना नितान्त असंगत है कि 'बौद्ध और अद्वैती कारण और कार्य का काल्पनिक अभेद मानते हैं' क्योंकि बौद्धों के पूर्वापर विज्ञानों में किसी प्रकार का अभेद उन्हें नहीं मान्य है। कारण, अभेद मानने में वे शाश्वतवाद का भय देखते हैं। उन्हें चार्वाकों के उच्छेदवाद और आत्मवादियों के शाश्वतवाद दोनों ही से बचना है किन्तु वेदान्तियों के यहाँ तो 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः' सूत्र से स्पष्ट कार्य को कारण से अनन्य कहा गया है। कारण से कार्य अन्य नहीं है फिर अभेद के काल्पनिक कहने का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। भेदाभाव ही अभेद है। वह कारण स्वरूप ही है। अतः द्वैत आदि की प्रसक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह अविद्या परिणामभूत अन्तःकरणादि अविद्या से भिन्न नहीं हैं अतः उनमें भेदमूलक स्मरणानुपपत्ति दोष नहीं आ सकता है। कहा जाता है 'अविद्या एक है किन्तु उससे उत्पन्न अहङ्कार अनेक हैं। अतः अविद्यागत संस्कारों से सभी अहङ्कारों में स्मरण होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं। विभिन्न देहों के अहङ्कारों में स्मरण समान नहीं होते। ऐसा क्यों ?' परन्तु इसका उत्तर स्पष्ट यह है कि अविद्या के एक होने पर भी उसके अंश अनेक हैं। उन अविद्यांशों के संस्कारों का उन उन अहङ्कारों से ही सम्बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त जीवभेद से अविद्याभेद

पक्ष भी है ही। प्रति जीव अविद्याभेद और अविद्यांशभेद से सब व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। विभिन्न देशों में विद्यमान अविद्यांश भिन्न भिन्न हैं फिर भी कहा जाता है 'जब अविद्यांश व्यवस्थित हैं तब तो शरीर चलते समय अविद्यांशों का आकर्षण नहीं होगा। सोते हुए मनुष्य का शरीर जब अन्यत्र पहुँचा दिया जाता है तब पूर्व देशस्थित अविद्यांश में विद्यमान संस्कारों से देशान्तरस्थ अविद्यांश से उत्पन्न तच्छरीरावच्छिन्न अहङ्कार में स्मरण उत्पन्न न हो सकेगा।' परन्तु यह कथन भी निराधार ही है। जैसे घट के गमन से घटोपादानांश मृत्तिका का गमन मान्य ही है। उसी तरह देह अहङ्कारादि के गमन से भी तदुपादानभूत अविद्यांश के गमन में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तत्तद् जीवों के कर्माधीन सम्बन्धित अविद्यांश ही जाग्रदादि में अहङ्कार रूप से निद्रा में अविद्यांश रूप में परिणत होते हैं।

जो कहा जाता है कि "पूर्व दिनस्थ एवं उत्तर दिनस्थ अहमर्थ के प्रत्यभिज्ञान से अहमर्थ का सद्भाव सुषुप्ति में मानना आवश्यक है। जो मैंने पूर्व दिनों में अमुक अमुक कार्य किया था वही मैं सोकर उठ रहा हूँ यह प्रत्यभिज्ञान अनुभव सिद्ध है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आत्मा का ही होता है उसका सर्वावस्थान्वयी होना सिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि अस्मद् शब्द लक्ष्यार्थ अखण्डबोध रूप आत्मा ही सोपाधिक रूप से प्रत्यभिज्ञा का गोचर होता है। प्रतिपक्षी के मत से सुषुप्ति में जब ज्ञान ही नहीं होता तब सुषुप्ति में आत्मा का सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है?

कहा जाता है "जैसे जगने पर अनुमान से निद्रा का ज्ञान होता है—मैं सुषुप्ति के व्यवहारों एवं ज्ञानों का स्मरण नहीं कर रहा हूँ। अतः उस समय व्यवहार एवं ज्ञान नहीं था। ज्ञानाभाव की दशा ही निद्रा है। जैसे निद्रा का समय एवं निद्रा; इसी तरह नैयायिकों के अनुसार नहीं प्रकाशने पर भी अहमर्थ आत्मा का भी सद्भाव निश्चित हो सकता है। मैं निद्रा काल में भी विद्यमान था क्योंकि पूर्व दिन के अनुभूत कर्मों का स्मरण कर रहा हूँ। पूर्व दिन में उन अर्थों का अनुभव करनेवाला मैं सोकर उठ रहा हूँ।" परन्तु यह सब कथन भी निरर्थक है, कारण कि अद्वैती के अनुसार सुषुप्ति में अहमर्थ के नष्ट हो जाने पर भी सुषुप्ति में प्राज्ञ आत्मा तो विद्यमान रहता ही है। "यत्स्वप्न जागर सुषुप्तमवैति नित्यम्" के अनुसार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को जाननेवाला आत्मा तो रहता ही है। स्थूलादि शरीरत्रया-वच्छिन्न चैतन्य विश्व कहलाता है। सूक्ष्मादि शरीरद्वयावच्छिन्न चैतन्य तैजस्

कहलाता है। कारण शरीरावच्छिन्न चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है। इस तरह इन अनुसन्धानों एवं प्रत्यभिज्ञानों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी अहं का अस्तित्व सुषुप्ति में नहीं सिद्ध होता। यह कहा जा चुका है कि यदि निद्रा में अहं उपलब्ध होता तो इच्छादि गुणों के साथ ही उसे उपलब्ध होना चाहिये था। "सन्नेयदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते" इस भागवत पद्य में अहं का प्रस्वाप अर्थात् कारणावस्थापत्ति स्पष्ट कही गई है। संस्कार और अहं अविद्या रूप में बने रहने के कारण स्मरणादि व्यवस्था में भी कोई आपत्ति नहीं होती। जो लोग अहमर्थ को ही आत्मा मानते हैं और उसे स्वप्रकाश भी कहते हैं उनके यहाँ तो सुतरां सुषुप्ति में अहमर्थ प्रकाश सर्वानुभव तथा श्रुत्यादि विरुद्ध है ही।

कहा जाता है "'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' मैंने कुछ नहीं जाना, 'सुखमहमस्वाप्सम्' मैं सुखपूर्वक सोया, इस परामर्श से अज्ञान, सुख और तद्भासक चैतन्य के समान ही अहं का भी परामर्श होता ही है फिर सुषुप्ति में अहमर्थ का सद्भाव क्यों न माना जाय।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह परामर्श प्रबोध काल में ही होता है। उस समय अहं का अस्तित्व रहता ही है। अतः अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य को ही इस प्रकार का परामर्श होता है। इससे सुषुप्ति में अहमर्थ का सद्भाव नहीं निश्चित होता।

जो कहा जाता है "सुषुप्ति में स्वापविशिष्ट अहमर्थ रहता है। सुखसंविद्विशिष्ट आत्मा जाग्रत् में ही रहता है।" परन्तु यह कथन निराधार है। यह पीछे कहा जा चुका है कि अहं के रहते हुये सुषुप्ति होती ही नहीं है। अतएव इन्द्रिय गण के समान अहं का प्रस्वाप कहा गया है। अहं के प्रस्वापविशिष्ट होने का अर्थ ही है अहं का प्रविलय। यदि सुप्ति में अहमर्थ होता तो उसके साथ इच्छादि गुणों का भी होना अनिवार्य था। जैसे रूपादिरहित घट का उपलम्भ नहीं हो सकता वैसे ही इच्छादिहीन अहमर्थ का भी उपलम्भ नहीं हो सकता। यदि गुणविशिष्ट रूप से अहमर्थ का उपलम्भ सुप्ति में हो तो उसे सुप्ति ही नहीं कहा जा सकेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि "मुक्ति में भी अहङ्कार रहता है।" परन्तु ऐसी स्थिति में मुक्ति अपुरुषार्थ ही रहेगी। जब सवीज सुप्ति में ही अहमर्थ नहीं है तो निर्वीज मुक्ति में कैसे रहेगा। जो कहते हैं सुप्ति में अहङ्कार रहता है उन्हें यह समझना चाहिये कि जबतक अहङ्कार रहता है तब तक सुप्ति होती ही नहीं। मैंने यह किया और मुझे यह करना है इत्यादि चिन्तन जबतक चलता है तब

तक निद्रा आती ही नहीं। अतः मुक्ति में प्रत्यगात्मा ही रहता है, त्वं अहं आदि कुछ नहीं रहता क्योंकि प्रत्यक् तो बोधरूप ही है। इसमें अहं इदं आदि का स्फुरण नहीं होता। अहङ्कार का अहं रूप से मन का इदं रूप से प्रकाश होता है, दोनों ही अन्तःकरण हैं।

कुछ लोग कहते हैं "प्रत्यगात्मा मुक्ति में अहं रूप से ही प्रकाशता है। क्योंकि वह अपने लिये प्रकाशता है। जो अपने लिये प्रकाशता है वह अहं रूप से ही प्रकाशता है, जैसे संसारी आत्मा। जो अहं रूप से नहीं प्रकाशता वह प्रत्यगात्मा नहीं, जैसे घट।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्कार-विशिष्ट आत्मा अहमिदं जानामि मैं इस वस्तु को जानता हूँ इस तरह विशेषाकार से ही सब कुछ जानता है, अतः वह स्वसम्बद्ध सब का भासक होता है। न वह सबको ही अपने लिये प्रकाशता है और न अपने को ही अपने लिये प्रकाशता है क्योंकि चतुर्थ्यन्त प्रथमान्त का ऐक्य नहीं हो सकता है। गुरु शिष्य के लिये अर्थबोधन करता है यहाँ भेद ही स्पष्ट है। जब बोधन के पहले ही वह अपने और अन्य को जानता है तब उसका बोधन व्यर्थ ही है। यदि नहीं जानता तो बोधन सर्वथा असंभव ही है।

कहा जाता है कि "दीपादि परार्थ प्रकाशते हैं स्वार्थ नहीं। किन्तु आत्मा तो स्वार्थ ही प्रकाशता है यही स्वस्मै—प्रकाशमानत्व है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, यहाँ विचारणीय है कि प्रकाश तेज का धर्म है या ज्ञाता का? पहला पक्ष संगत नहीं, क्योंकि आत्मा नीरूप ही है। तेज से रूपादि का ही प्रकाश होता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि दीपादि में जड़ता के कारण ज्ञातृत्व ही नहीं। यदि कहा जाय कि दीप का प्रकाशमानत्व तेज का धर्म है, आत्मा का प्रकाशमानत्व ज्ञातृधर्म है तो भी विचार करना है कि आत्मा अपने लिये अपने को जानता है या पर को। पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान का कर्ता स्वयं ज्ञान का कर्म नहीं होता पर समवेत क्रिया फलशाली ही कर्म होता है। इसके अतिरिक्त वह स्वज्ञान से पहले ही स्व सिद्ध होता है। यदि सिद्ध न हो तो ज्ञाता ही कैसे बनेगा? यदि आत्मा अपने लिये अन्य को जानता है तो भी वह अन्य क्या है? परमात्मा या प्राकृत प्रपञ्च? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा आत्मा एक ही है फिर उस एक ही में ज्ञेयज्ञातृ भाव कैसे हो सकता है? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि प्राकृत प्रपञ्च ज्ञान से जन्य कोई आत्मा का स्वार्थ है ही नहीं, फिर स्वस्मै प्रकाशमानत्व कैसे उपपन्न होगा? प्रत्युत प्रपञ्चज्ञान दुःख रूप ही है।

कहा जाता है कि जीवात्मा चन्दन, माला, वनितादि को अपने सुख के लिये जानता है परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानमात्र से सुख नहीं होता। फिर संसारी आत्मा को तो स्वात्म सुख का लाभ नहीं होता। अतः जन्य सुख के लिये चन्दनादि ज्ञान हो भी परन्तु मुक्तात्मा को तो स्वरूप सुख ही व्यक्त होता है फिर विषय सुखापेक्षा कैसे होगी? मुक्ति दशा में विषय एवं विषय सुख कुछ भी नहीं होता, अतः आत्मसुखार्थ विषयानुभवितृत्वरूप स्वस्मै प्रकाशमानत्व संसारी में किसी तरह बन भी जाय तो भी मुक्तात्मा में वह सब संभव नहीं, अतः स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूप हेतु ही मुक्तात्मा में नहीं है फिर उसके बल पर अहं का प्रकाश कैसे मान्य हो सकता है?

जो अपने लिये प्रकाशता है वह अहंरूप से प्रकाशमान हो सकता है। 'अहमिदंजानामि' ऐसी प्रतीति उसी में होती है। घटादि का ऐसा प्रकाश नहीं होता, क्योंकि उसमें अहङ्कार वैशिष्ट्य नहीं होता। प्रत्यगात्मा भी अहंरूप से नहीं प्रकाशता, क्योंकि उसमें भी अहङ्कार वैशिष्ट्य नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यगात्मा तो परार्थ भी प्रकाशता है क्योंकि उसी के भान से सब का भान होता है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' मुक्तात्मा परार्थ नहीं प्रकाशता, क्योंकि उस स्थिति में पर रहता ही नहीं। स्वार्थ भी नहीं प्रकाशता, क्योंकि वह स्वयं पूर्णकाम है। अतः उसका स्वार्थ है ही नही, यदि स्वार्थ है तो वह अकृत कृत्य ही है।

कुछ लोग कहते हैं "अहं प्रत्यय अज्ञत्वादि का मूल नहीं है" परन्तु यह ठीक नहीं। इदमहं न जानामि, सुखी अहं, दुःखी अहं इत्यादि अनुभव अहं प्रत्यय के होने पर ही होता है। उसके न रहने पर नहीं होता। अहं प्रत्यय भी अज्ञान एवं अन्योऽन्याध्यासमूलक ही है।

कहा जाता है "अहं ही आत्मा का स्वरूप है। अतएव अहं प्रत्यय ही स्वरूप ज्ञान है। यह अज्ञता का आपादन नहीं करता। फिर संसारिता का आपादन कैसे करेगा? प्रत्युत अज्ञत्व संसारित्व का विरोधी होने से वह अज्ञता का नाशक ही है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अहं यह रूप अहङ्कार का है। आत्मा का नहीं। आत्मा का तो ज्ञान ही स्वरूप है। अनात्म स्वरूप अहं में आत्मत्व का ज्ञान भ्रम ही है। अतः अज्ञता का ही आपादक अहं प्रत्यय है। जब वही संसार का बीज है तो उसे संसारित्वनाशक कैसे कहा जा सकता है? मैं मनुष्य हूँ, कृश हूँ, सुखी, दुःखी हूँ ऐसा माननेवाला असंसारी कैसे हो सकता है?

कहा जाता है कि "ब्रह्माहं, ऐसा समझनेवाला असंसारी है। परन्तु इसमें भी तो अहं का अस्तित्व है और यह अहं प्रत्यय संसार का नाशक ही है यह भी कहना ठीक नहीं"। कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यय अखण्ड ब्रह्म प्रत्यय है, इसमें अहं शब्द का लक्षणा से उसी अखण्ड ब्रह्म में प्रयोग है। 'अहं मनुरभवं' इत्यादि वाक्य के अनुसार वामदेवोद्धरित अहं शब्द का भी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही अर्थ है। प्रत्यागात्मा वस्तुतः मन्वादि नहीं हो सकता, किन्तु माया से वही सर्वस्वरूपता को प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि "हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवताः इत्यादि श्रुतियों के आधार पर विदित होता है कि ब्रह्म में भी अहं प्रत्यय होता है" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे जीव में अहं वृत्ति एवं इदं वृत्ति दो वृत्ति होती है वैसे ही ईश्वर की उपाधिभूत माया में भी दो वृत्तियाँ होती हैं। अतएव मायी ईश्वर में ही अहं प्रत्यय होता है, शुद्ध ब्रह्म मे अहं प्रत्यय नहीं होता। जैसे मुक्तात्मा में अहं प्रत्यय नहीं होता वैसे ही शुद्ध ब्रह्म में भी अहं प्रत्यय नहीं होता।

कहा जाता है "शुद्ध ब्रह्म है ही नहीं," परन्तु यह ठीक नहीं, जिसकी माया है वही मायावी होता है। माया से पृथक्भूत रूप ही शुद्ध ब्रह्म है 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इस श्रुति से भी शुद्ध ब्रह्म विदित होता है। कहा जाता है 'यदि अहङ्कार अज्ञता का आपादक है तो ईश्वर भी अज्ञ सिद्ध होगा।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण अन्तःकरण वृत्तिरूप अहङ्कार ही अज्ञत्व का प्रयोजक है। अन्तःकरण सम्बन्ध से जीव में अज्ञता होती है परन्तु माया सम्बन्ध से तो ईश्वर में सर्वज्ञता ही होती है। अतएव असंसारिता भी उसमें रहती है। अल्पज्ञता ही संसारिता का प्रयोजक होती है। परन्तु माया तो सर्वव्यापिनी है। उसके योग से ही ईश्वर में सर्वज्ञता होती है। अन्तःकरण परिच्छिन्न होता है। उसके संसर्ग से जीव में अल्पज्ञता आती है।

वस्तुतस्तु ईश्वर में अहंग्रह न होने पर यावद् व्यवहार अहङ्कार का सद्भाव रहता है। इसी दृष्टि से 'अहं घटं करवाणि' मैं घर बनाऊँ, कुलाल के तुल्य मैं नाम रूप का व्याकरण करूँ, इस तरह ईश्वर भी व्यवहार करता है। 'अहं पुरुषोत्तमः', 'अहमात्मा' इत्यादि व्यवहारों में वह भी लक्षणा से ही अहं शब्द का प्रयोग करता है, अभिधा शक्ति से नहीं। अहं शब्द की वक्ता में शक्ति होती है। वह वक्ता यदि जीव है तो वह अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता होता है। ईश्वर हुआ तो मायावच्छिन्न चैतन्य होता है। शुद्ध चैतन्य में

वक्तृत्वादि धर्म नहीं होता। देहेन्द्रियादि युक्त चैतन्य ही वक्ता होता है। उपाधिरहित में वक्तृत्व नहीं होता। स्वरूपतः अकाय अव्रण आत्मा होता है। माया से ही ईश्वर भी देहवान् होता है। जीव कर्म सहित अविद्या से देहाध्यास को प्राप्त होकर जन्मता मरता है। अतः जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध में प्रयुक्त अहं शब्द लक्षणा से शुद्ध चैतन्य का बोधक होता है।

कहा जाता है कि "अनेक वाक्यों के अहं शब्द का लाक्षणिक अर्थ करना दोष है।" परन्तु मुख्यार्थ बाध में लक्षणा होना उचित ही है, दोष नहीं।

कहा जाता है "आत्मा में अहं शब्द का प्रयोग मुख्य ही है। आत्मा ही अबाधित अहं प्रत्यय का गोचर है। सभी आत्मा को अहं रूप से ही जानते हैं। कोई भी आत्मा को अनहं नहीं समझता।" परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि सभी को आत्मा में ही अहंबुद्धि हो तब तो सबकी मुक्ति ही होनी चाहिये। वस्तुतस्तु आत्मत्वेन अभिमत देहादि में ही अहं बुद्धि होती है। इसी लिये 'अहं मनुष्यः' ऐसी प्रतीति होती है। विद्वान को ही आत्मा में अहं-बुद्धि होती है। सर्वानुभव विषय होने से अहं शब्द का आत्मा मुख्य अर्थ नहीं है किन्तु अनात्मा अहङ्कार ही अहं का अर्थ है।

कहा जाता है कि "स्व अहं शब्द का अर्थ है और स्व आत्मा ही है, अतः आत्मा अहं दोनों पर्यायवाचक हैं। अतः मुख्यावृत्ति से ही आत्म शब्द एवं अहं शब्द जीव एवं ईश्वर के बोधक हैं।" परन्तु यह ठीक नहीं, कारण आत्म शब्द स्वयं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आत्म शब्द त्वं के साथ भी जुड़ता है 'त्वमात्मना जानासि'—तुम अपने से ही जानते हो। परन्तु अहं शब्द का प्रयोग त्वं के साथ नहीं होता है। इसी लिये स्वयं और आत्म शब्द त्वं अहं इदं सब के साथ साथ लग सकता है। 'त्वं स्वयं गच्छ, 'अहं स्वयं गच्छामि,' 'स स्वयं गच्छति,' 'आत्मनाऽसौ तृतीयः'। अहं शब्द जीवेश्वरवाची हो सकता है। परन्तु शुद्ध चैतन्य में लक्षणा से ही अहं शब्द प्रयुक्त होता है।

कुछ लोग कहते हैं "आत्मा में अहं शब्द स्वाभाविक है, परन्तु अनात्मा में दोष से अहं शब्द प्रयुक्त होता है। वह दोष अविद्या है। उसी से प्राणी देहादि को आत्मा मानता है, आत्मा को नहीं। विद्या से आत्मा को ही आत्मा मानता है। अतः अहं शब्दार्थ ही आत्मा है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ विचार करना आवश्यक है कि क्या आत्मा आत्मा को

अहं मानता है अथवा अनात्मा ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि चिन्मात्र में मन्तृत्व होता ही नहीं, अन्यथा सुप्ति, मृति, मूर्छा में भी आत्मा को अहं रूप से मान सकता है। यदि कहा जाय कि यह इतर ही है तो ठीक नहीं क्योंकि यह सर्वानुभव विरुद्ध है। यदि अनात्मा ही आत्मा को अहं समझता है तब तो अनात्मा ही अहं शब्द का अर्थ ठहरा। क्योंकि मन्ता और वक्ता ही अहं शब्दार्थ है यह कहा ही जा चुका है। इसी तरह यह भी विचारणीय है कि आत्मा में अहं शब्द का जो प्रयोग करता है वह आत्मा है या अनात्मा ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि देहेन्द्रियादि रहित आत्मा से शब्दप्रयोग हो ही नहीं सकता। यदि द्वितीय पक्ष मान्य है, तब तो अनात्मा ही अहं शब्दार्थ ठहरता है। यदि कहा जाय कि 'इन्द्रियादि सहित आत्मा शब्द प्रयोग करता है,' तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अविद्या बिना असङ्ग आत्मा में देहेन्द्रियादि साहित्य संभव ही नहीं। जो देहेन्द्रियादि सङ्गी है वह प्रत्यगात्मा नहीं होता किन्तु जीव ही है। वही कर्ता, वही भोक्ता है। वह अहंकार विशिष्ट ही है वही अहमर्थ है। अतः आत्मा में आत्म शब्द एवं स्व शब्द प्रयोग स्वाभाविक है, अहं शब्द प्रयोग दोषकृत है। वह दोष है, अविद्याकृत अहङ्कार और आत्मा का तादात्म्याध्यास। विद्या से अविद्या के नष्ट होने पर आत्मा में अहं शब्द का प्रयोग लक्षणा से ही होता है, अभिधा से नहीं। कहा जाता है 'यदि अनात्मा अहं शब्द का मुख्य अर्थ है तब घटादि में भी अहं शब्द का प्रयोग होना चाहिये।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्काररूप अनात्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग होता है। किञ्च जो अहं शब्दार्थ आत्मा को मानता है उसके मत से त्वं शब्द का क्या अर्थ है ? यदि कहा जाय कि वह भी आत्मा ही है तो आत्मा का अहं ही रूप है यह बात कट जाती है। यदि कहा जाय कि त्वं भी आत्मा का ही रूप है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि त्वन्ता एवं अहन्ता रूप विरुद्ध धर्मों का एक आत्मा में समावेश नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि दो आत्माओं में दोनों का प्रयोग होगा तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में द्वित्व असिद्ध है। आत्मभेद मानने पर भी किसमें त्वन्ता है और किसमें अहन्ता है इसका निर्धारण न हो सकेगा। स्वात्मा में अहन्ता परात्मा में त्वन्ता यह भी नहीं कहा जा सकता। स्व एवं आत्मा शब्द पर्यायवाची हैं। अतः स्व आत्मा का विशेषण नहीं बन सकेगा। इसी तरह पर और आत्म शब्द भी परस्पर विरुद्ध होने से उनमें भी विशेषण-विशेष्य भाव नहीं बन सकेगा।